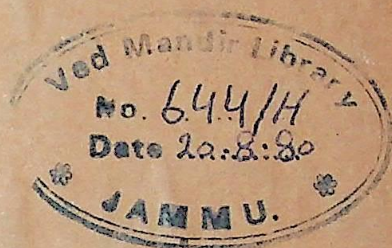
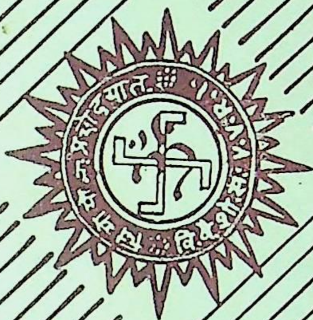
वेद-सार

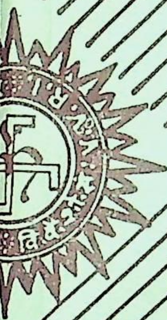
(मूल मन्त्र पाठ व हिन्दी अनुवाद)



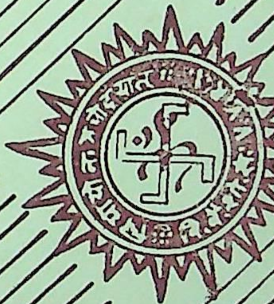
विश्वबन्धु












विश्वेश्वरानन्द संस्थान प्रकाशन—४०
Vishveshvaranand Institute Publication—40

सर्वदानन्द विश्व ग्रन्थमाला
SARVADANAND UNIVERSAL SERIES

ग्रन्थ—७
Volume—7



१९७० ई०
२०२७ वि०

अस्याः स्मारकग्रन्थमालायाः समर्पणम्

● पञ्चापे लब्धजन्माऽऽसीद् होश्यारपुर-मण्डले ।
महात्मा सर्वदानन्दस् तपः-सिद्धो यतीश्वरः ॥ १ ॥

● वेद-वेदान्त-सच्छ्रद्धः प्रशान्ताऽशेष-वासनः ।
सत्यधर्म-प्रचाराऽर्थं लोकसेवा-दृढव्रतः ॥ २ ॥

● सत्-प्रेरणाभिराशीर्भिर् योऽभवद् मुनि-सत्तमः ।
अस्माकं सर्वदा मान्यः संस्थानस्याऽस्य पोषकः ॥ ३ ॥

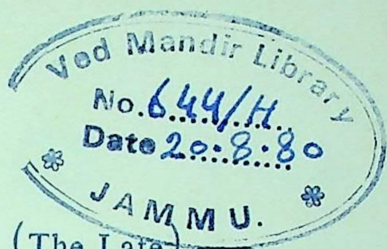
● तस्याऽस्तु सुचिर-स्मृत्यै पूजायै च समर्पिता ।
श्रीविश्वग्रन्थमालेयं तन्नाम्ना योपशोभिता ॥ ४ ॥

सम्पादक

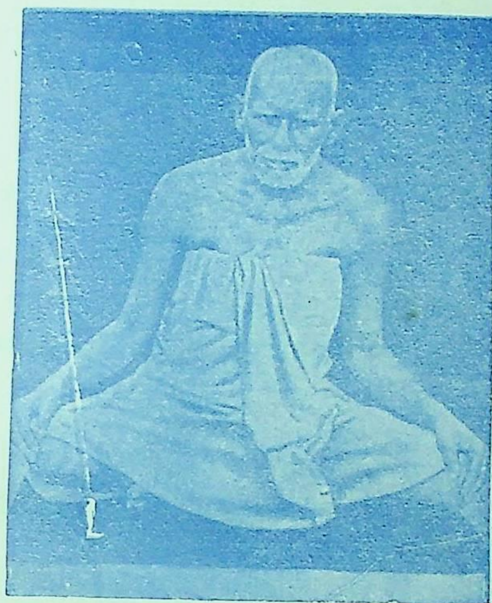
विश्वबन्धु

प्रकाशक

वि. वै. शो. संस्थान, होशियारपुर



स्वर्गत (The Late)



श्रीमान् स्वामी सर्वदानन्द जी

Shri Swāmi Sarvadānanda

सं. १९१६-९९ (सन् 1895-1942)

स. वि. ग्रन्थमाला—७



S. V. Series—7

वेद-सार

मूलमन्त्र-पाठ व हिन्दी अनुवाद

[वैदिक साहित्य-प्रवेशिनी भूमिका, सूक्तिमाला वैदिक व्याकरण, स्वरछन्दःसंबन्धी निर्देशों, एवं पदकोष आदि सहित]

लेखक
विश्वबन्धु

होशिआरपुर

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान

१९७०

● तृतीय संस्करण

● मूल्य—५.००

● सन् १९७०, २०२७ विक्रमी

● मुद्रक व प्रकाशक

श्री देवदत्त शास्त्री विद्याभास्कर,
वि. वै. शोध संस्थान प्रैस,
साधु आश्रम, होशिआरपुर (पंजाब), भारत

विषय सूची

विषय-सूचि

वेद-सार

[साध्य-खण्ड]

प्रस्तावना

१. माला-नायक का परिचय :

श्री स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज का जन्म पंजाब के होशयारपुर नगर के समीपवर्ती बड़ीबसी नाम के उपनगर के एक प्रसिद्ध वैद्यों और विद्वानों के कुल में सं० १९१६ में हुआ था। आपकी आरम्भिक शिक्षा अपने यहां से बारह कोस पर हरियाना उपनगर में हुई थी। आरम्भ से ही आपके अन्दर धार्मिक रुचि और साधु-सन्तों के सत्संग में प्रीति पाई जाती थी। इसी कारण जब गृहस्थ हो जाने के कुछ समय पश्चात् आपकी गृहिणी का देहान्त हो गया, तो आप घर से निकल कर विरक्त अवस्था में विचरने लग गये। सं० १९५३ के लगभग आपके अन्दर श्री स्वामी दयानन्द कृत सत्यार्थ-प्रकाश के पाठ द्वारा लोक-सेवा का तीव्र भाव जाग उठा। तभी से आपने स्थिरमति होकर, सद्विचार और निष्काम-कर्म के सुन्दर, समन्वित मार्ग को धारण किया और सं० १९९९ में निर्वाण-पद की प्राप्ति तक, अर्थात् ४६ वर्ष बराबर, उसे निबाहा। आप पवित्रता व सरलता की मूर्ति, राग-द्वेष से विमुक्त, दरिद्र-नारायण के उपासक और खरी-खरी अनुभव की बातें सुनाने वाले सदा-हँस परम-हंस थे। आप सदा सभी के बनकर रहे और कभी किसी दल-बंदी में नहीं पड़े।

माला का इतिहास और क्षेत्र :

श्री स्वामी जी महाराज श्री विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान संबन्धी पुण्यन्यास तथा संस्थान की कार्यकारिणी समिति के अन्यतम आदिम

सदस्य थे और आपने इसे आजीवन अपने आशीर्वाद का पात्र बनाए रखा। आपके देहान्त के उपरान्त संस्थान ने यह निश्चय किया कि एक स्थिर साहित्य विभाग के रूप में आपका स्मारक स्थापित किया जाय, जो सरल, स्थायी सार्वजनिक साहित्य प्रकाशित करे और उसके द्वारा, आपके जीवन के ऊंचे और व्यापक आदर्शों को स्मरण कराता हुआ, जनता-जनार्दन की सेवा में लगा रहे। इस पवित्र कार्य के लिए जनता ने साठ हजार रुपये से ऊपर प्रदान करते हुए अपनी श्रद्धा प्रकट की। परन्तु यह कार्य यहां तक पहुंचा ही था, कि हमारा प्रदेश पाकिस्तानी आग की लपेट में आ गया और सारी भारत-मातृक जनता के साथ ही संस्थान को भी लाहौर छोड़ना पड़ा। साथ ही, इसे कई लाख रुपये की भारी हानि भी सहनी पड़ी। तत्पश्चात् जब तीन-चार वर्ष के घोर परिश्रम के फलस्वरूप यह किसी प्रकार अपने पांव पुनः जमा पाया और अपना नया मुद्रणालय स्थापित करने में सफल हुआ, तो इसने सं० २००७ से उक्त संकलिपत स्मारक के रूप में 'श्री स्वामी सर्वदानन्द सार्वजनिक साहित्य विभाग' चालू करते हुए उसकी ओर से प्रस्तुत 'सर्वदानन्द-विश्व-ग्रन्थमाला' का प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया। इस माला में इन बारह वर्षों के भीतर लगभग १,५०,०००) रुपये की लागत से ५३ ग्रंथ निकल चुके हैं, जिनकी कुल पृष्ठ-संख्या ९९८८ है।

विश्व-भर के विश्व-विध विज्ञान, दर्शन, साहित्य, कला और अनुभव के आधार पर रचे जा रहे ग्रन्थों की इस माला के प्रकाशन-कार्य का क्षेत्र अति विशाल रखा गया है। इन प्रकाशनों की मुख्य भाषा हिन्दी है, और इनका मुख्य आधार

भारतीय संस्कृति और साहित्य है। इनमें अपने पूर्वजों की दाय-रूप सामग्री की व्याख्याओं के साथ ही साथ नई मौलिक रचनाओं का तथा देश-विदेश की उत्तम रचनाओं के अनुवादों आदि का भी विशेष रूप से समावेश किया जा रहा है।

३. उपस्थित ग्रन्थ :

वैदिक साहित्य आर्य संस्कृति का मूल स्रोत है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद वैदिक साहित्य के प्रमुख ग्रन्थ हैं। प्रत्येक वेद का पाठ उसकी कई-एक शाखाओं के रूप में कुछ-कुछ भेद के साथ उपलब्ध होता है। ऋग्वेद की शाकल शाखा, यजुर्वेद की माध्यन्दिन-शाखा (उत्तर भारत में), और तैत्तिरीय शाखा (दक्षिण भारत में), सामवेद की कौथुम-शाखा एवं अथर्ववेद की शौनक-शाखा ही इस समय अपने-अपने सम्बन्धित वेद के नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ उक्त ऋग्वेद, यजुर्वेद (माध्यन्दिन), सामवेद और अथर्ववेद के अन्दर से संगृहीत, व्यक्ति और समाज के जीवन को समुन्नत करने वाली शिक्षाओं और प्रेरणाओं से भरे हुए उत्तम मन्त्रों के मूल पाठ और अनुवाद के रूप में है।

इसमें मुख्यतः उन मन्त्रों को रखा गया है, जिनके अन्दर आशा-भरे, शक्तिशाली, उत्साहयुक्त, स्फूर्तिमय, दीर्घ, मधुर और सुपुष्ट जीवन की उद्दीपक भावनाएं पाई जाती हैं। इन मन्त्रों के पाठ से पाठक अनुमान कर सकेंगे कि वैदिक संस्कारों में पला हुआ प्राचीन भारतीय मानव अपने हृदय में जीवन-सम्बन्धी किन-किन और कैसी-कैसी आकांक्षाओं और उमंगों को लिये हुए होता होगा।

हमारे अनुवाद का लक्ष्य सरल, समन्वित शब्दार्थ मात्र देना है। अपनी ओर से कहीं-कहीं कुछ-कुछ, शब्द जोड़ने पड़े हैं, ताकि मूल वाक्य का अभिप्रेत अर्थ स्पष्ट हो सके। भाव यह है कि यदि कोई पाठक केवल अनुवाद भी पढ़े तो उसे उसमें मूल ग्रन्थ जैसा रस प्रतीत होना चाहिए। जब कोई अनुवाद शब्दों के पदार्थ से बहुत दूर चला जाता है, तो वह छायार्थ या भावार्थ होकर व्याख्या का कार्य भले ही कर सके, परन्तु वह अनुवाद नहीं कहा जा सकता। उससे पाठकों को ऐसा लगता है कि अनुवादक अपनी मन-मानी बातों को यूंही मूल-पाठ के माथे मढ़ रहा है। इसलिए हमने मूल शब्दों से जोड़ खाने वाले अर्थों को ही सरल प्रकार से रखने मात्र का प्रयत्न किया है।

मूल पाठ को, पढ़ने में सुगम बनाने के लिए, छन्दों के चरणों को अलग-अलग करके रखा गया है। जहां-जहां सन्धि के कारण पाठ कठिन हो गया है, वहां-वहां संहित वर्णों को अलग-अलग दिखा कर पाठ को सरल और सुबोध बना दिया गया है। साथ में, इस बात का भी बराबर ध्यान रखा गया है कि पाठ का तार न टूटे।

प्रत्येक पृष्ठ पर पढ़े गये मन्त्र किस वेद के किस स्थल से लिये गये हैं, यह दिखाने के लिए प्रत्येक पृष्ठ के मूल भाग में ऋ. (=ऋग्वेद), य. (=यजुर्वेद), सा. (=सामवेद), और अ. (=अथर्ववेद) के संबन्धित स्थल-संकेत संबन्धित मन्त्र-संख्याओं के आगे दे दिये गये हैं।

स्वर की दृष्टि से वेद-पाठ के उतार-चढ़ाव के तीन मुख्य माप होते हैं, जिन्हें अनुदात्त, उदात्त और स्वरित कहते हैं। इन

तीनों स्वरों को प्रदर्शित करने के लिए वैदिक 'शाखाओं' में कई प्रकार के रेखात्मक और अंकात्मक चिह्न अक्षरों के नीचे-ऊपर लगाये जाते हैं। इन चिह्नों के नानाविध होने के कारण भिन्न-भिन्न 'शाखाओं' का संतुलनात्मक अध्ययन करना अति कठिन हो जाता है। इस कठिनाई को दूर करने के भाव से हमने अपने 'वैदिक-कोष' में एक विशेष प्रक्रिया के अनुसार चिह्न लगाये हैं। हमारी इस प्रक्रिया के अधीन प्रत्येक पद का केवल मुख्य स्वर, अर्थात् उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित, क्रमशः, नीचे की पड़ी रेखा या ऊपर की खड़ी रेखा द्वारा दिखाया जाता है। यह प्रक्रिया, विशेषतः, प्रत्येक पद के अर्थ को समझने का यत्न करने वाले अध्यापकों और छात्रों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है। इसलिए इस ग्रन्थ में भी इसी के अनुसार प्रत्येक पद के नीचे या ऊपर केवल एक-एक पड़ी या खड़ी रेखा ही दी गई है।

ग्रन्थ के अन्त में (१) 'वेद-सार का सूक्तिसार', (२) 'मन्त्र-प्रतीक-सूची', और (३) ऋग्वेद आदि से उद्धृत मन्त्रों की वेद-वार अलग-अलग सम्पूर्ण 'स्थल-संकेत-सूची' को लगाया गया है। निःसन्देह, तुलनात्मक दृष्टि से ग्रन्थ का अध्ययन करने वालों के लिए ये उपकरण बहुत उपयोगी होने चाहिएं।

४. प्रस्तुत संस्करण :

इस ग्रन्थ का प्रथम प्रकाशन सं० २००८ में हुआ था। वेद-विद्या में प्रवेश करने वाले प्रौढ़ छात्रों के विशेष लाभार्थ, इसके प्रस्तुत 'शैक्षणिक संस्करण' में इसे, आरम्भ में, वैदिक-साहित्य के सामान्य इतिहास में प्रवेश कराने वाली 'भूमिका' से और, अन्त में, दो 'परिशिष्टों' से समन्वित किया गया है।

इनमें से प्रथम 'परिशिष्ट' में वैदिक व्याकरण, स्वर तथा छन्द के बारे में कुछ आवश्यक संकेत दिये गये हैं। दूसरा 'परिशिष्ट' लगभग ५०० विशिष्ट पदों के कोष के रूप में है। इस कोष में प्रत्येक पद के आगे उसकी मन्त्र-संख्या देकर व्याकरण की दृष्टि से उसके स्वरूप-परिचय का संकेत किया गया है। इस कोष में कहीं-कहीं पढ़ने-पढ़ाने वालों के परिचित व्याकरण-ग्रन्थों से विसंवाद भी दृष्टिगोचर होगा। जैसे, अकरम् पद को पाणिनीय व्याकरण में √कृ (तना.) लुङ् उ १ कहा गया है। परन्तु यहाँ पर √कृ (भ्वा.) की कल्पना करके प्रकृत रूप को लङ् उ १ निर्दिष्ट किया गया है। अध्यापक महानुभावों से विशेषतः यह निवेदन है कि वे ऐसे स्थलों को तुलनात्मक ढंग से छात्रों को ग्रहण कराने का कष्ट करेंगे। और, कुछ-एक ऐसे भी टिप्पण होंगे जिन्हें छात्र अपने गुरु-जनों के परामर्श-पूर्वक ही भली-भांति अवगत कर सकेंगे।

५. आभार-प्रकाशन :

भारत की शाश्वत-सम्पत्ति-स्वरूप वेद-विद्या को जनता के हितार्थ प्रकाशित करने के लिए स्वयं भारत ने युग-युगान्तर में, और पश्चिम संसार ने वर्तमान युग में, जिन तपोधन, सूक्ष्मदर्शी वैदिक आचार्यों और व्याख्याकारों को जन्म देकर श्रुति भगवती को सुरक्षित रखने और हम तक पहुंचाने का योग्य माध्यम बनाये रखा है, हम हृदय से उन सबका आभार स्वीकार करते हैं। वस्तुतः यह उन गुरु-जनों के किये हुए कार्य की ही महिमा है, जो हमें भी वेद-विद्या की कुछ तुच्छ सेवा करने का यह सुअवसर प्राप्त हुआ है।

इस ग्रन्थ के अन्त में जोड़े गये (१) 'वेदसार का सूक्तिसार', (२) 'मन्त्र-प्रतीक-सूची', एवं (३) 'स्थल-संकेत-सूची' को

निष्पन्न करने का श्रेय श्री देवदत्त शास्त्री जी को है। 'परिशिष्ट (१)' और 'परिशिष्ट (२)' के प्रथम विन्यास, क्रमशः, श्री मन्त्रिणीप्रसाद जी तथा श्री शिवप्रसाद भारद्वाज जी ने सम्पन्न किये थे, जिन्हें श्री भीमदेव जी ने संशोधित रूप में प्रस्तुत किया है। अपने 'संस्थान' के विद्वानों ने अपने-अपने उक्त कार्य-भाग को पूरे ध्यान और परिश्रम के साथ उत्तम रूप में किया है। पञ्जाब विश्वविद्यालयीय संस्कृत विभाग के विद्वान् श्री जगन्नाथ जी अग्रवाल ने 'भूमिका' के सम्बन्ध में विशेष सामग्री जुटाई है। इसी प्रकार, 'संस्थान' के 'प्रकाशन-विभाग' और 'मुद्रण-विभाग' ने इस ग्रन्थ को जिस अच्छे ढंग से तैयार करके निकाला है, वह संतोष-जनक है। मैं अपने इन सब सहयोगियों के इस योग-दान को बहुत मूल्यवान् समझता हूं और इसके लिए इनका हार्दिक धन्यवाद करता हूं।

पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ ने संस्कृत एम. ए. की परीक्षा के लिए इस ग्रन्थ को पाठ्य-पुस्तक नियत करके इसका मान बढ़ाया है। इस सम्मान-दान के लिए उक्त विश्वविद्यालय के अधिकारी का भी विशेष धन्यवाद किया जाता है। आशा है, सम्बन्धित प्राध्यापक एवं छात्र-गण इस ग्रन्थ को यथावत् उपयोगी पायेंगे। कहना न होगा कि हम भी अपने इस प्रयत्न को उनके संतोष के अनुपात-पूर्वक ही सफल समझ सकेंगे।

विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान,
साधु-आश्रम, होशियारपुर,
(९-१-७०)

विश्वबन्धु

भूमिका

वैदिक साहित्य का संक्षिप्त परिचय

१. संस्कृत भाषा और साहित्य :

विश्व-मानवीय वाङ्मय के विशाल क्षेत्र में हम भारतीयों के संस्कृत वाङ्मय का, क्या इसकी प्राचीनता और क्या इसकी समृद्धि के कारण, अपना ही अनुपम स्थान और मान है। पूजा और पाठ हो, धर्म और कर्म हो, विचार और विमर्श हो, कथा और कहानी हो, काव्य और नाटक हो, नीति और उपदेश हो, विद्या और विज्ञान हो, कला और कौशल हो—संस्कृत वाङ्मय के अन्तर्गत इन सभी के तथा और भी अनेक प्रकार के वर्णनार्ह वस्तुवर्गों के भरपूर भण्डार पाये जाते हैं। जिस सुदूरवर्ती अतीत युग में इस सुसम्पन्न, सुविकसित और सुमनोहर साहित्यिक सृष्टि का सर्वप्रथम स्रोत बह निकला, उस के उपरान्त अब तक, कौन जाने और कौन कहे, कितनी सहस्राब्दियां बीत चुकी हैं। किन्तु धन्य है इस अनादि-निधना सहस्र-धारा सरिता की सरसता जो अभी भी बराबर बहती चली जा रही है।

इसी बीच में, लगभग तीन सहस्र वर्ष पहिले से, संस्कृत-परिवार की ही उत्तरोत्तर प्रजास्वरूपिणी पाली-प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के युग प्रवृत्त हो चुके हैं, जो क्रमशः अपने-अपने कतिपय भग्नावशेष पीछे छोड़ते हुए स्वयं प्रायः नामावशेष हो गये हैं। परन्तु कितने रोमांचकारी आश्चर्य की बात है कि इन्हीं तीन सहस्र वर्षों के सुदीर्घ समय में भी

संस्कृत के सांस्कृतिक भण्डारों के अपने नये से नये गगनचुम्बी भवन भी, साथ के साथ, बराबर आज दिन तक खड़े होते चले आए हैं। इसके साथ ही, उक्त संस्कृत-कुलीय भाषाओं के अनेक रत्नागार भी धीरे-धीरे संस्कृत का ही रूप पुनः धारण करते हुए संस्कृत के विशाल भवन में ही समाविष्ट हो गये हैं।

संस्कृत का यह विशाल साहित्य युग-युग में भारतीयों के सर्व-विध सांस्कृतिक उत्कर्षों और आदर्शों को मुकुरित करता हुआ चला आया है। साथ ही, यह साहित्य उक्त महार्घ सांस्कृतिक मान्यताओं और प्रथाओं के आधार पर इस देश की समूची जनता को, बोलियों, भोजनाच्छादन और संप्रदाय संबन्धी अनेक भेदों-प्रभेदों के होते हुए भी, भावनात्मक एकरूपता के स्थिर रंग में एक-रंग बनाता रहा है। वर्तमान एकराष्ट्रता के अतिनवीन युग के आने से पूर्व यह महान् देश कभी-कभार ही एक-छत्रिक राष्ट्र बन पाता था। साधारणतः, यह छोटे-बड़े स्वतन्त्र राजतन्त्रों में बँटा ही रहता था। परन्तु ऐसा होते हुए भी संस्कृत को समूचे भारत का प्रधान साहित्यिक माध्यम होने का गौरव सदा ही प्राप्त रहा है। इसकी इसी व्यापक मान्यता के फल-स्वरूप ही कामाख्या से भुज-कच्छ और कन्याकुमारी से अमरनाथ तक का भारत, राजतन्त्रिक दृष्टि से अन्तःखण्डित होते हुए भी, सांस्कृतिक दृष्टि से एक अखण्ड राष्ट्र का रूप धारण किये रहा है। इसी अद्भुत घटना का यह सुपरिणाम हुआ है कि इस देश के सभी प्रदेशों के निवासी, समान रूप से, भारतीय बने रहे हैं।

प्राचीन समय में भारतीय लोग तिब्बत, मध्य-एशिया, मंगोलिया, कोरिया, जापान, चीन, सुमात्रा, जावा, बाली, मलय, वीतनाम, लाउस, कम्बोज, बर्मा, लंका, गन्धार, अफ़ग़ानिस्तान, ईरान, पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ्रीका, दक्षिणी यूरोप तथा (अनेक विद्वानों के

मतानुसार) अमरीका जैसे दूर-दूर के विदेशों में पहुंच चुके थे, जहां वे प्रायः बस कर वहाँ-वहाँ की मूल जनता के साथ घुल-मिल गये। उन में से जो वैदिक अथवा श्रामणिक धर्मों में विशेषतः निष्ठावान् थे, वे अपने धर्म-ग्रन्थों को भी अपने साथ ले गये और उन्हीं के अभ्यास तथा प्रचार में लगे रहे। उन्होंने कृषि, वाणिज्य, प्रशासन आदि अन्य सर्वविध व्यवसायों में लीन हो रहे अपने शेष भारतीय बन्धुओं के अन्दर संस्कृत और पाली-प्राकृत साहित्यों के प्रति श्रद्धामयी ज्योति जागृत रखी। साथ ही, उन्होंने वहाँ-वहाँ के अपने से पहले के निवासियों को भी भारत के प्राचीन ग्रन्थों के सदुपदेशों द्वारा अत्यन्त प्रभावित किया। उसी के फल-स्वरूप बाहर के उक्त सभी विदेशों की भाषाओं एवं उनकी साहित्यिक प्रवृत्तियों पर संस्कृत और पाली-प्राकृत की बहुत गहरी छाप पड़ी जो आज तक स्थिर चली आई है। इस प्रकार संस्कृत-भाषा देश-विदेश की सभी भाषाओं के मध्य में अपने अनन्त गुण-वैभव के पुण्य-प्रताप से उन की सार्वदेशिक और सार्वकालिक सम्राज्ञी के रूप में सुप्रतिष्ठित होकर युग-युग में शोभायमान होती रही है।

२. वैदिक साहित्य :

संस्कृत साहित्य की श्री-वृद्धि के सर्वप्रथम युग में वेदों का आविर्भाव हुआ। संसार के किसी भी देश-प्रदेश में रचित और नाम ग्रहण करने के योग्य किसी ऐसे साहित्य की सत्ता का प्रमाण नहीं मिलता, जिसे निश्चित रूप से, वैदिक साहित्य की अपेक्षा अधिक प्राचीन कहा जा सकता हो। वैदिक साहित्यिक प्रवृत्ति का सूत्रपात ठीक कहां और कब हुआ, यह विषय अभी तक विवाद-ग्रस्त ही चला आता है। किन्तु, जैसा कि अब प्रायः माना जाता है, यह विशाल वाङ्मय मुख्यतः भारत के पश्चिमोत्तर क्षेत्र की ही उपज है। इस की मूल सृष्टि आज से

लगभग ५००० वर्ष पूर्व से प्रारम्भ हो कर लगभग ३०००. वर्ष पूर्व तक चलती रही। तत्-कालीन भारत के पश्चिमोत्तर क्षेत्र के साथ आज के पश्चिमी पाकिस्तान, अफ़ग़ानिस्तान, रूसी व चीनी तुर्किस्तान और पूर्वोत्तरी ईरान का ज्ञातीय तथा सांस्कृतिक ऐक्य बहुत-कुछ बना रहा। अतः, इन दृष्टियों से, उक्त सुविशाल क्षेत्र पश्चिमोत्तर भारत के साथ मिल कर एक अभिन्न देश सा बना हुआ था। काल-क्रम से उक्त वैदिक क्षेत्र का दक्षिण-पूर्व में भी, पहले, गंगा, गोमती तक, और फिर कुछ और उधर आगे तक विस्तार हो गया था।

३. ऋग्वेद :

आदिम वेदयुगीन धर्म-कर्म-निरत 'ऋषियों' अर्थात् सन्त कवियों के मुख से उनके भक्ति-भाव-भरित, भावनोद्दीप्त हृदय की उपज-स्वरूप जो छन्दोमय 'मन्त्र' अर्थात् उद्गार निकले, उन्हें 'ऋचा' कहते थे। इस प्रकरण में पठित 'ऋचा' शब्द का संबन्ध 'स्तुति, पूजा आराधना' को कहने वाले √अर्च् के सगोत्र √ऋच् से है और 'ऋषि' शब्द में पाया जाने वाला √ऋष् भी इसी अर्थ को ही कहता है। एवं 'मन्त्र' शब्द √पण्, √पन्, √भण्, √मण् और √वण् के सगोत्र शब्दार्थक √मन् से निष्पन्न हुआ है। प्रचलित धातु-पाठों में जो √ऋष् और √मन् पढ़े गये हैं, वे क्रमशः 'गति' और 'ज्ञान' अथवा 'अवबोध' के अर्थों में पढ़े जाने के कारण हमारे इन √ऋष् और √मन् से भिन्न समझे जाने चाहियें। दूसरा विकल्प यह हो सकता है कि धातुपाठों में बताये इन धातुओं के अर्थों के साथ हमारे द्वारा संकेतित अर्थों का धातुपाठों में उप-संख्यान किया जाये। ऐसा सर्वसम्मत वाद चला ही आता है कि धातुपाठों में पढ़े गये अर्थ उपलक्षण मात्र हैं, उनसे भिन्न अन्य अर्थ

भी प्राकरणिक अपेक्षा के अधीन स्वीकृत किये जाते रहे। इन धातुओं के ये अर्थ नहीं मिलते।

मूलतः, ऋचाएं मुक्तकों एवं सूक्तों के रूप में चिरकाल तक प्रकट होती रहीं। धीरे-धीरे इन की संख्या अत्यधिक हो गई और इन सभी अस्त-व्यस्त हुए काव्योद्गारों का स्मृति में स्थिर बना रहना बहुत कठिन हो गया। विस्मृति-वश इन का लोप भी होने लगा। इस कारण इन के पठन-पाठन और पारायण को उत्साह-पूर्वक चलाने वाले संप्रदायविद् आचार्यों के हृदय में आशङ्का पैदा होने लगी कि ऋचाओं के इसी तरह से बराबर लुप्त होते चले जाने से कहीं पूर्व पुरखों के तीव्र तप का फल-स्वरूप यह परम्परोपलब्ध बहुमूल्य संप्रदाय विकल और विच्छिन्न न हो जाय। अतः उन्होंने अपनी इस महार्घ पैतृक निधि की रक्षा हेतु पूरा प्रयत्न किया। वे जहां-तहां जा-जा कर भिन्न-भिन्न संप्रदायविदों से मिले और जो भी ऐसी ऋचाएं मिलीं, जो उनके अपने-यहां से लुप्त हो चुकीं थीं, उन सब को उन्होंने कण्ठस्थ कर लिया। तब फिर उन्होंने अपने स्थान पर आकर उन सब ऋचाओं के संपूर्ण पाठ के प्रचारार्थं उनको विशेष रूप से व्यवस्थित और क्रमबद्ध करते हुए ग्रथित अर्थात् संगृहीत कर लिया (तु० यास्कीय निरुक्त १, २०)। यही हमारा 'आदि ग्रन्थ' बना, जो 'वेद' के पवित्र नाम से युग-युगान्तर में प्रसिद्ध रहा है। यह 'वेद' शब्द योग और मिश्रण के वाचक 'वेष' शब्द तथा संगमन-वाचक 'मेध' शब्द का सगोत्र था। इस कारण इस का प्राथमिक अर्थ 'संग्रह' मात्र था। यह पंजाबी शब्द 'बीड़' का पर्याय था। यह 'ऋचाओं का संग्रह' है, इस भाव को स्पष्टतर करने के अभिप्राय से इसका पूरा नाम कालान्तर में 'ऋग्वेद' प्रसिद्ध हुआ। इस का दूसरा नाम 'ऋक्-संहिता' भी है, जो इसी आशय को प्रकट करता है।

प्रचलित ऋग्वेद में १०५५२ ऋचाओं का संग्रह मिलता है, जो १०२८ 'सूक्तों' में बंटा हुआ है। इन में से, कुल मिला कर, ८० ऋचाओं के ११ सूक्त 'बालखिल्य' अर्थात् 'परिशिष्ट पाठ' के रूप में चले आते हैं। ये सब सूक्त १० मण्डलों में विभक्त हैं। छः मण्डलों (२-७) में से एक-एक का पृथक्-पृथक् मूल ऋषि और उस के वंशज ऋषियों के साथ संबन्ध कहा जाता है। इस प्रकार, ये छः मण्डल क्रमशः गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज और वसिष्ठ ऋषियों और उनके कुलों से संबन्धित चले आते हैं। उन्हीं से इन का प्रथम प्रकाश हुआ था, ऐसा समझा जाता है। ८वां मण्डल कण्व और अङ्गिरस् ऋषियों के कुलों की मिली-जुली उपज है। १ला और १०वां मण्डल बहुत से ऋषि-कुलों की देन हैं। यही बात ९वें मण्डल के बारे में पाई जाती है। किन्तु इस की विशेषता यह है कि इस के सब सूक्तों का 'सोम' ही एकमात्र 'देवता' अर्थात् प्रधान रूप से स्तुति का विषय है। ऋग्वेद का एक दूसरा विभाग-प्रकार भी चलता रहा है, जिस के अनुसार यह आठ-आठ अध्यायों वाले आठ अष्टकों में बंट जाता है। विभाजन के इन दो प्रकारों में से मण्डलीय प्रकार ही प्राचीन ऋषि-परिवारों के इतिहास की दृष्टि से विशेषतः महत्त्व-युक्त कहा जा सकता है। इसी प्रकार को ही आधुनिक युग के विद्वानों ने विशेषतः अपनाया है।

'ऋचाओं' के गाने वाले 'ऋषि' पृथिवी से लेकर सूर्य पर्यन्त और उस से भी परे व्याप रही और रूप-रूप में प्रतिरूप हो कर बस रही महामहिम, मायामयी दैवी विश्व-शक्ति के उपासक थे। उसी परम तत्त्व की विश्व-भावना से उजागर हो पड़ी उनकी आर्ष दृष्टि में भूमि, जल, वायु, सूर्य आदि असंख्य पदार्थ साधारण भौतिक पदार्थ ही नहीं रह जाते थे। वे सभी 'देवता' अर्थात् उसी परात्-पर-रूपी 'एकं सत्' के सन्देश-वाहक प्रतीक और उसकी स्थूलरूपिणी भौतिक

अभिव्यक्ति के माध्यम बन जाते थे। उन्हीं अनेक नामों वाले अग्नि, इन्द्र आदि 'देवताओं' का पूजामय, भावनामय, काव्यात्मक वर्णन और गुण-गान 'ऋचाओं' का मुख्य विषय है। साथ ही, ऋचाओं के अंदर इन के 'ऋषिओं' के तत्त्वचिन्तन एवं नानाविध लौकिक और व्यावहारिक अनुभव के फलस्वरूप अनेक अन्य विषयों से संबन्धित उपदेशों और संकेतों का समावेश मिलता है। उक्त अग्न्यादि 'देवता' तथा तद्-भिन्न-प्रकारक सभी पदार्थान्तर, जिन का ऋचाएं बखान करती हैं, समान रूप से उन के 'देवता' अर्थात् 'स्तुत्य और प्रतिपाद्य विषय' कहे जाते थे। प्रकृत 'देवता' शब्द स्तुत्यर्थक √दिव् से निष्पन्न हुआ है। इस प्रकार से, गंभीर पारमार्थिक भावनाओं और विविध व्यावहारिक सूचनाओं का आदिम उद्गम होने के नाते, एक ओर, सञ्जीवन की आध्यात्मिक प्रेरणा पाने के लिए, और दूसरी ओर, भारतीय संस्कृति के प्राचीनतम युग के इतिहास की खोज करने के लिए ऋग्वेद का अत्यन्त महत्त्व है, जिसे सभी विचारक मुक्त-कण्ठ से स्वीकार करते चले आये हैं।

ऋग्वेद आदिकाव्य होता हुआ भी अपने ओजस्, प्रसाद और माधुर्य आदि गुणों, तथा अनुप्रास, उपमा, रूपक आदि नानाविध शब्दालंकारों एवम् अर्थालंकारों से ओत-प्रोत वर्णनों के कारण चोटी का उत्तम काव्य कहा जा सकता है। निदर्शन मात्र के लिए उत्तरोक्त कुछ उद्धरण देखने योग्य हैं—

मन्दि॒मिन्द्रा॑य म॒न्दिने॑। चा॒र्किं—च॒क्रये॑ (१,९,२)

मा गाम॒नागा॒मदि॑तिं वधिष्ट (८,१०१,१५)

सु॒दक्षो॒ दक्षैः॒ क्रतु॑नासि सु॒क्रतुः॑ (१०,९१,३)

स नः॑ पि॒तेव॑ सू॒नवेऽग्ने॑ सूपाय॒नो भ॑व (१,१,९)

अस्येद् स्त्रिया गिरयश्च दृळ्हाः (१,६१,१४)
यः कुक्षिः सोमपातमः समुद्र इव पिन्वते (१,८,१)
वसुर्वसुपतिर्हि कमस्यग्ने विभावसुः (१०,७४,१)
नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्ति,
अहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते ।
दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ताः,
शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति ॥ (१०,३४,९)

ऋग्वेद में संगृहीत सब ऋचाओं का निर्माण ऋषियों की एक-दो पीढ़ियों का ही कार्य नहीं था। इसका कई शतियों में विस्तार होता रहा होगा। इसलिए सूक्तों और, कई बार, ऋचाओं की भाषा में पुरानी और नई की दृष्टि से स्तर-भेद पाया जाता है। १०वें मण्डल की भाषा विशेष रूप से कुछ नई होने से सरल लगती है। ऋषि लोग स्वयं अपने से पहले के ऋषियों और उनकी कही पुरानी ऋचाओं का संकेत करते हैं (ऋ० १,१,२; ६,३४,२)। इस प्रकार भाषा की दृष्टि से अनेक-युगीन होने एवं साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त गम्भीर और परिमार्जित होने के कारण ऋचाओं की भाषा जन-साधारण की बोल-चाल की भाषा से बहुत भिन्न हो चुकी थी। औचथ्य दीर्घतमस् ऋषि को ऐसा लगता था कि यदि ऋचाओं की शब्दराशि के चार भाग कर लिये जायें, तो उनमें तीन भाग ऐसे बनते थे जो तत्कालीन साधारण अपठित जनता के लिए दुरूह हो चुके थे (ऋ० १,१६४,४५)। ऋचाओं का ऋग्वेद के रूप में संग्रह होते-होते जनता की बोल-चाल की भाषा उन ऋचाओं की भाषा से व्याकरण और विशेषतः शब्दराशि की दृष्टि से पर्याप्त भिन्न हो चुकी थी।

ऋग्वेद का जो एकमात्र पूरा संग्रह अब मिलता है, वह आचार्य शाकल्य के उपदेशानुसार सम्पन्न हुआ था और उनके 'कुल' में उसका ही पठन-पाठन चलता था : परन्तु वैदिक संस्कृति के पूर्वोक्त विशाल क्षेत्र में उस समय और भी अनेक 'कुल' चल रहे थे। उनके कुलपति आचार्यों ने भी अपने-अपने 'कुलों' में वेद-पाठ की अलग-अलग परम्पराएं प्रमाणित की हुई थीं। इस प्रकार, ऋग्वेद एक होता हुआ भी अनेक संग्रह के रूप में प्रचलित था। इन विभिन्न संग्रहों की संख्या २१ बताई गई है।

इन संग्रहों में संकलित ऋचाओं तथा सूक्तों की संख्या और स्थिति के बारे में कहीं-कहीं कुछ-कुछ अन्तर पाया जाता था। उदाहरणत:, शांख्यायनीय ऋग्वेद में पूर्वोक्त ११ बालखिल्य सूक्त मूल में ही समाविष्ट होकर पढ़े जाते थे और दशम मण्डल के वर्तमान अन्तिम १९१वें सूक्त के उपरान्त १५ ऋचाओं का एक और १९२वां सूक्त बढ़ा कर पढ़ा जाता था। बाष्कलीय 'कुल' में भी इस १९२वें सूक्त को इसी प्रकार पढ़ा जाता था। परन्तु उनके संग्रह में ११ बालखिल्य सूक्तों में से ७½ सूक्तों ही का पाठ मूल में समाविष्ट किया गया था। शतपथ ब्राह्मण (११,५, १, १०) में ऋग्वेद के एक और भिन्न संग्रह का संकेत मिलता है, जिसमें अब १८ ऋचाओं वाले रूप में पाया जाने वाला उर्वशी-पुरूरवस् का सूक्त (१०, ९५) १५ ऋचाओं वाले रूप में पढ़ा जाता था।

ये प्राचीन विभिन्न पाठ-परम्परायें भिन्न-भिन्न 'शाखाओं' के नाम से प्रसिद्ध थीं। इसलिए जो पूर्वोक्त संग्रह अब प्रचलित है, उसे ऋग्वेद की 'शाकल-शाखा' कहते हैं। अर्वाचीन युग में 'शाखा' शब्द की 'वृक्ष-विटप' के अर्थ में ही विशेष प्रसिद्धि हो गई है। इसी कारण, वेद संबन्धी 'शाखा' शब्द को भी अब तक, प्रायः, 'विटप'

के अर्थ में ही लिया जाता रहा है। परन्तु यह बात ठीक प्रतीत नहीं होती। वृक्ष अनेक शाखाओं वाला होने के कारण 'शाखिन्' शब्द का वाच्य बनता है। उन सभी शाखाओं के छेदन के पश्चात् भी, उन से पृथक् सत्ता वाला वह वृक्ष अपने स्कन्ध के रूप में ज्यों का त्यों खड़ा, स्वतन्त्र रूप से, दृष्टिगोचर होता रहता है। इसके विपरीत, यदि ऋग्वेद की पूर्वोक्त 'शाकलों' आदि सभी शाखाएं किसी कारण वश, छिन्न-भिन्न होकर नष्ट हो जायें तो ऋग्वेद का सर्वथा अभाव हो जाएगा, वह स्वतन्त्र सत्ता वाले अन्य किसी भी पदार्थ के रूप में पीछे बचा न रह सकेगा। इतना ही नहीं, एक और विशेष अन्तर भी है। वृक्ष की प्रत्येक शाखा सदा शाखा मात्र ही रहती है, वह कभी भी संपूर्ण वृक्ष की पदवी को प्राप्त नहीं कर पाती। परन्तु ऋग्वेद की पूर्वोक्त शाखाओं में से एक-एक 'शाखा' स्वयं, मानो, अपने सहज अधिकार से, सम्पूर्ण ऋग्वेद के पद पर प्रतिष्ठित चली आती है। उस-उस 'कुल' वालों के लिए, उस-उस 'शाखा' के अतिरिक्त, 'ऋग्वेद' नामक अन्य कोई पदार्थ नहीं रहा। उस-उस 'कुल' के लोग यह अवश्य जानते थे कि उनसे कुछ दूरी पर स्थित उस-उस दूसरे 'कुल' के लोग उस-उस विभिन्न ऋग्वेद-शाखा को पढ़ते हैं। परन्तु वे पहले 'कुल' के लोग उस-उस दूसरे 'कुल' द्वारा प्रमाणित ऋग्वेद-शाखा को अपने कुल के लिए प्रामाणिक नहीं समझते थे। अतः वे न केवल उसका पाठ ही नहीं करते थे, वरन् उसके पाठ को अशुद्ध भी समझते और कहते थे।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऋग्वेद की पूर्वोक्त शाखाएं वृक्ष की शाखाओं के समान नहीं थीं, प्रत्युत वे ऋग्वेद के समूचे संगृहीत पाठ के भिन्न-भिन्न समकक्ष संस्करणों के रूप में थीं। वस्तुतः, ये दोनों 'शाखा' शब्द एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न थे।

निर्वचन की दृष्टि से इन दोनों का अपना-अपना अलग-अलग इतिहास था। वेद संबन्धी प्रकृत 'शाखा' शब्द का निर्वचन 'उपदेश' अर्थात् 'पाठ' अर्थ वाले √*शाख से समझना चाहिये। संस्कृत के प्रचलित धातुपाठों में इस धातु का निर्देश नहीं मिलता। किन्तु ऋ० (७,१०३,५) के अध्यापक-वाचक 'शाक्त' शब्द से इस धातु की प्राचीनतर विद्यमानता प्राय: संकेतित हो जाती है। कारण, उक्त शब्द में विद्यमान √*शाक् प्रकृत √*शाख् का पर्यायभूत सगोत्र रूपान्तर मात्र है। 'शब्द शक्ति', 'शक्यार्थ', 'शक्वरी' आदि प्रचलित प्रयोग, मूलत: 'वचन'-रूपी अभिप्रेत अर्थ को सीधा कहने वाले √शक् के ज्ञापक हैं, जिसे उक्त √*शाक् का लघूपध रूपान्तर ही कहते बनता है। इसी प्रकार, √श(शं)स्, √शास् (शिष्) भी उसके रूपान्तर मात्र हैं। वाग्-वाचक 'शची' (निघण्टु १,११) का √*शच्, अर्चन-वाचक 'शशमान' (निघ० ३,१४) का √*शश्, विद्वद् वाचक √'सखि' (ऋ० १०,७१) का √*सख् पंजाबी 'वृत्तान्त-पर्याय 'साखी' शब्द का √*साख् और प्रसिद्ध वाङ्मय-वाचक 'साहित्य' शब्द का √*सा (ख् >) ह्, एवं 'कहानी √कहना' इस अर्थ वाले फारसी प्रयोग 'सुख्न,' 'साखुन' के √*सुख् वा √*साख् भी उक्त √*शाख् के ही सगोत्र रूपान्तर कहे जाने चाहियें।

समानशाखीय अध्येतृ-वर्ग के लिए 'चरण' शब्द का प्रयोग होता था। इस शब्द में पाया जाने वाला √चर् 'शब्द' अर्थात् 'पठन-पाठन' का वाचक था। इस धातु का यह अर्थ धातुपाठ में नहीं मिलता। इसी √चर् से 'आचार्य' और 'उच्चारण' और 'चारण' आदि शब्दों की निष्पत्ति हुई थी। यह धातु 'गति' और 'भक्षण' अर्थ वाले √चर् से भिन्न ही था।

४. यजुर्वेद :

भारतीय साहित्य के जिस आदिम युग में वैदिक 'देवताओं' के स्तोत्रों के रूप में 'ऋचाओं' का आविर्भाव और विकास हुआ, उसी में उस से भी कहीं अधिक प्राचीन युग से चली आ रही यज्ञरूपी पूजा-प्रणाली का और भी विशेष रूप से विकास हुआ। ऋग्वेद में अतीव प्रचुरता से उपलब्ध हो रहा देवपूजा-वाचक √यज् से निष्पन्न तिङन्त और कृदन्त पदों का प्रयोग इसी स्थिति की सूचना देता है। सहस्रों ऋचाएं ऐसी हैं, जिन्हें समझने के लिए उनकी याज्ञिक पृष्ठभूमि का समझना अत्यावश्यक है। जिन 'ऋषिकुलों' से उद्गत होकर ऋचाओं की ध्वनियाँ आकाश में गूंजीं थीं, वहीं से याज्ञिक प्रथाओं का भी विस्तार हुआ। परन्तु इस का यह आशय नहीं है कि सब की सब ऋचाएं साक्षात् क्रियमाण यज्ञ-कर्म के साथ-साथ उच्चारण करते जाने के लिए ही रची गई हों। जैसे वर्तमान युग के सन्त कवियों ने कृष्ण-लीला और राधा, मुरली आदि उस के कई-एक उपकरणों की तथा प्रेममार्गी कवियों ने मधुशाला, साकी और प्याले की पृष्ठभूमि का पदे-पदे आश्रय लेकर और, मानो, उस से नित्य नई प्रेरणा और उत्तेजना पाकर विशुद्ध भक्ति और वेदान्त के गीत गाये हैं, वैसे ही वैदिक ऋषियों ने भी अतीव परिचित याज्ञिक पदावली का प्रायः इसी प्रकार, से आलंकारिक उपाश्रय ही लिया था, ऐसा प्रतीत होता है। हां, हो सकता है कि पीछे आकर कुछ ऋचाएं साक्षात् यज्ञ-कर्म में पढ़ने के उद्देश्य से भी रची गई हों।

पद्यात्मक मंत्र अर्थात् ऋचाएं कहने वाले ऋषियों ने स्वयम् अथवा उन के 'कुलों' के अन्य ऋषियों ने अवश्य भिन्न प्रकार के ऐसे गद्यात्मक मन्त्र भी कहे थे, जो यज्ञ-कर्म के साथ-साथ ही बोले जाने वाले थे। ऐसे मन्त्रों का नाम 'यजुस्' रखा गया था। इन्हें साक्षात् यज्ञ-कर्म

के मन्त्र कह सकते हैं। इन की रचना का काल ऋचाओं की रचना के साथ-साथ समानान्तर रूप से चलता रहा प्रतीत होता है। तभी तो ऋग्वेद (१०, ६०, ६) में इनकी ओर स्पष्ट रूप से किया गया संकेत मिलता है।

यज्ञ-कर्म में गद्यात्मक यजुओं के साथ-साथ बोले जाने के लिए जो ऋचाएं विनियुक्त अर्थात् आचार्यों द्वारा नियत की जाती रहीं, उनके भिन्न-भिन्न यज्ञकर्मों के प्रकरणानुसार 'पुरोनुवाक्या' अर्थात् 'आहुति-कर्म की अवतरणिका के रूप में पढ़ी जाने वाली', 'याज्या' अर्थात् 'साक्षात् आहुतिकर्म कराने वाली' आदि विभिन्न नाम पड़ गये थे।

उनके अन्दर यज्ञकर्म के आगे-पीछे तथा बीच-बीच में अनेक अन्तर हुआ करते थे। आचार्य लोग किये जा रहे यज्ञ-कर्मों और उनके निमित्त पढ़े जाने वाले गद्यात्मक एवं पद्यात्मक मत्रों के स्पष्टीकरण के लिए उन के कई प्रकार के व्याख्यान कर दिया करते थे। उन गद्यमय प्रवचनों को मन्त्र और यज्ञकर्म, दोनों के व्याख्यान-स्वरूप 'बृंहण' अर्थात् विस्तार होने के कारण 'ब्राह्मण' कहते थे।

जब समय पाकर यज्ञकर्म-संबन्धी पूर्वोक्त दोनों प्रकार के अर्थात् पद्यात्मक तथा गद्यात्मक मंत्रों और उनके याज्ञिक प्रकरण से संगत व्याख्यानात्मक 'ब्राह्मणों' की संख्या बहुत बढ़ गई, तो उन को कण्ठस्थ रखने के सौकर्य के लिए उन का संग्रह कर लिया गया। जिस का नाम 'यजुर्वेद' हुआ। जैसा विभिन्न ऋषि-कुलों ने अपनी-अपनी याज्ञिक परम्परा के अनुसार अपना-अपना यजुर्वेद भी संकलित किया।

यजुर्वेद के इन आदिम विभिन्न संग्रहों में मंत्रों के साथ ब्राह्मण-पाठों का भी सम्मिश्रण पाया जाता था। पीछे आकर वाजसनेय परिवार के ऋषि-कुलों ने ऐसे यजुर्वेद संकलित किये जिन में केवल मत्र ही रखे गये, ब्राह्मणांश नहीं। इन दोनों प्रकार की याजुष्

'शाखाओं' की संख्या सामान्यतः १०१ बताई गई है, परन्तु 'चरणव्यूह' में ८६ कही गई है। इस समय पूर्व वर्ग की तैत्तिरीय, मैत्रायण, काठक और कपिष्ठल 'शाखाएं' एवं उत्तर वर्ग की माध्यन्दिन तथा काण्व शाखाएं मिलती हैं।

यजुर्वेद के इन दो प्रकार के संग्रहों में विवेक करने लिए पूर्ववर्ती संग्रहों को 'कृष्ण' अर्थात् संमिश्रित कहा गया। इस 'कृष्ण' शब्द की व्युत्पत्ति खिचड़ी-वाचक 'कृशर' और 'कृसर' शब्दों में पाये जाने वाले मिश्रणार्थक √कृश् और √कृस् के सगोत्र √कृष् से कहनी चाहिए। यहां काले वर्ण के साथ इस धातु का संबन्ध नहीं है। इसी प्रकार उत्तरवर्ती संग्रहों को ब्राह्मणांशों से विमुक्त कर दिये जाने के कारण उन्हें 'शुक्ल' अर्थात् 'परिशोधित, परिपूत' कहा गया। यहां इस शब्द का 'श्वेत' वर्ण से संबन्ध नहीं है।

५. सामवेद :

वेदयुगीन समग्र वाणी अपने सहज स्वरूप से गान-प्रवण प्रवृत्ति वाली थी। उसका एक-एक अक्षर वाचनिक उतार-चढ़ाव की शृङ्खला में बंधा हुआ उच्चरित होता था। पद्यात्मक ऋचाओं के पाठों में यह विविक्तस्वरमयी प्रवृत्ति और अधिक विस्पष्ट हो जाती थी। परन्तु वैदिक भक्तों और सन्तों की अन्तरात्मा इस साधारण वेद-पाठ मात्र से संतुष्ट नहीं हो सकती थी। वे ऋचाओं के स्वर-सहित पढ़ने मात्र में न लगे रहकर, अपनी फुरनी के अनुसार नानाविध आलापों और रागों में उनके गाने के अभ्यास में निरत हुए। उनके उस सुदीर्घकालीन अभ्यास के फलस्वरूप विभिन्न सांगीतिक ताल-स्वरों में ढाल-ढाल कर गाई जाने वाली ऋचाओं के योगों का 'सामन्' नाम पड़ा, जो मूलतः प्र√स्वृ*मधुरालापे'>*प्रस्वमंन्>*प्समंन्*>प्सामन्) से परिणत

हुआ लगता है (तु. ८,१२,३२; एवं आंग्ल-'Psalm' वा तन्मूलभूत यूनानी 'Psalmos')। विभिन्न 'कुलों' के संगीताचार्य ऋषियों ने काल-क्रम से इन सामों के अपने-अपने संग्रह बनाये, जो साम-गान की उस-उस शाखा के रूप में प्रचरित और प्रसिद्ध हुए। सामगानों की इन शाखाओं की संख्या १००० बताई गई है। इस का यही अभिप्राय प्रतीत होता हैं कि उस युग में संगीत का बहुत अधिक विकास हो चुका था। ऋग्वेद में तत्कालीन सामगान के प्रचुर प्रचार के पर्याप्त संकेत पाये जाते हैं (तु. १,६२,२;१६४,२४ प्रभृ.)।

पूर्वोक्त प्रकार से ऋचाओं के आधार पर सामों का विकास संपन्न हुआ था। इस सम्बन्ध में जिन-जिन ऋचाओं का विशेष रूप से उपयोग किया गया था, उन-उन ऋचाओं के संग्रह का नाम ही सामवेद पड़ा था। विभिन्न ऋषि-कुलों ने अपने-अपने कुल में सामगानार्थं उपयोगार्ह ऋचाओं के अलग-अलग संग्रह बनाए थे, जो सामवेद की विभिन्न शाखाओं के नाम से प्रसिद्ध हुए। 'सामतर्पणविधि' के अनुसार इन शाखाओं को राणायन प्रभृति १३ सामगानाचार्य ऋषियों ने पृथक्-पृथक् चालू किया था। इन १३ शाखाओं में से इस समय कौथुमी और जैमिनीय शाखाएं ही मिलती हैं। राणायनीय और कौथुमी शाखाओं में समान ऋचाओं का ही संग्रह किया गया था, परन्तु उनकी गणना-पद्धतियों में कुछ-कुछ अन्तर था। कौथुमी और राणायनीय संग्रह में संगृहीत कुल ऋचाएं १८७५ हैं, जिन में से १०५ ऐसी हैं, जो ऋग्वेद की अब एकमात्र उपलभ्य शाकल शाखा में नहीं मिलतीं। अवश्य ये १०५ ऋचाएं भी ऋग्वेद की ही किसी अन्य अब लुप्त हो चुकी शाखा से ली गई होंगी।

६. अथर्ववेद :

ऋचाओं को कहने वाले ऋषि-वर्ग में दो प्रकार की प्रवृत्तियों वाले कवि सम्मिलित रहे। प्रथम, आध्यात्मिक प्रवृत्ति वाले जो दैवी

आराधना, आत्मोद्बोधना और ज्ञानोद्भावना में निरत रहते और मुख्य रूप से उन्हीं विषयों के मन्त्र कहते थे। दूसरे, लोक-संग्रही प्रवृत्ति वाले जो पौरोहित्य और वैद्यक के अभ्यास द्वारा समाज का नेतृत्व करते हुए अपनी एवं अपने यजमानों की सुख-सम्पत्ति की वृद्धि और दुःख-दुर्गति की निवृत्ति के लिए उद्युक्त रहते थे। ऋग्वेद में मुख्य रूप से वे मन्त्र संगृहीत हुए जो ऋषियों की प्रथम अर्थात् आध्यात्मिक प्रवृत्ति की उपज थे। पूर्वोक्त प्रकार से इसी ऋक्-संग्रह के उपसंग्रह के रूप में सामवेद विकसित हुआ। पौरोहित्य-परक मन्त्रों में से जिन का तत्कालीन याज्ञिक संस्था के पृष्ठवंश-स्वरूप हविर्यज्ञों, पाकयज्ञों और सोमयज्ञों से विशेष सम्बन्ध पड़ता था, उनका मुख्य संग्रह यजुर्वेद में हुआ। ऋषि लोग तत्-कालीन सामान्य विश्वास के आधार पर, जिन अपने सिद्ध किये हुए मन्त्रों के माध्यम से, साथ में औषधियों, मणियों (गट्टों) और अभिचार-कर्मों (जादू-टूणा) का उपयोग करते हुए, अपनी और अपने यजमानों की मंगलवृद्धि और अमंगल-बाधा और अपने यजमानों के शत्रुओं की मंगल-बाधा और अमंगल-वृद्धि सम्पन्न करते थे, उनका संग्रह, मुख्यतः, अथर्ववेद के नाम से और, साथ में, अथर्वाङ्गिरोवेद, भृग्वङ्गिरोवेद, अङ्गिरोवेद, भैषज्यवेद, ब्रह्मवेद और क्षत्रवेद के नामों से भी प्रसिद्ध हुआ। इन्हीं और इसी प्रकार के अन्य मंत्रों का पीछे आकार यन्त्र (जंत्र) और तन्त्र नाम पड़ा। भारतीय जन्त्र-मन्त्र और तन्त्र के इस प्राचीनतम संग्रह स्वरूप अथर्ववेद से ही उत्तरकालीन आयुर्वेद और तन्त्रशास्त्र का विकास हुआ। प्राचीन समय में अथर्ववेद की नौ शाखाओं का प्रचार बताया जाता है। उन में से दो अर्थात् शौनक और पैप्पलाद शाखाएं ही अब उपलब्ध हैं।

अथर्ववेद के उक्त प्रकार के सभी विषय ऋग्वेद और यजुर्वेद में भी विद्यमान हैं। परन्तु वहां ये बहुत कम मात्रा में पाये जाते हैं।

ऋग्वेद (१०,७१,११) से यह स्पष्ट रूप से विदित होता है कि ऋग्वेदी, सामवेदी, यजुर्वेदी और अथर्ववेदी विद्वान् मिल कर ही यज्ञों को सम्पन्न कर पाते थे। उन में से ऋग्वेदी 'होता' कहाता था, सामवेदी 'उद्गाता', यजुर्वेदी 'अध्वर्यु' और अथर्ववेदी 'ब्रह्मा'। वे सब समान रूप से ऋत्विज् कहाते थे। उन में से ब्रह्मा तभी बोलता था जब उसे उपस्थित या आशङ्कित किसी विघ्न-बाधा को अपने विशेष मन्त्र-बल से बांध डालना या छिन्न-भिन्न कर देना होता था। उसकी इसी विद्या को ऋग्वेद के उक्त मन्त्र में 'जात' नाम दिया गया है जो 'यातु, जादू' का पर्याय प्रतीत होता है। इसे ही आजकल 'झाड़ा' या 'झाड़ू' करना कहा जाता है। ऋग्वेद (१०, ९०,९) में जो 'छन्दस्' शब्द पढ़ा गया है, वह आथर्वणिक मन्त्रों का ही वाचक प्रतीत होता है। वहां पर इन मन्त्रों को अन्य सब मन्त्रों अर्थात् ऋचाओं, यजुओं और सामों के साथ समकक्ष कहा गया है। अथर्ववेद (१०,७,२०) में भी यही भाव प्रकट किया गया है।

अथर्ववेद मुख्यतः अथर्वन्, भृगु और अङ्गिरस् के तीन ऋषिकुलों की देन है। इन तीनों ऋषियों की ऋग्वेद में भी बड़ी महिमा कही गई है। ऋग्वेद और अथर्ववेद का शेष आर्ष सम्प्रदाय भी प्रायः समान ही है। इसलिए आरम्भ में अथर्ववेद की मान्यता दूसरे तीनों वेदों के समान ही थी। रचना की दृष्टि से अथर्ववेद के मंत्र अत्यधिक अंश में ऋचाओं और अत्यल्प अंश में यजुओं के रूप में ही प्रकट हुए हैं। इस कारण यद्यपि वेद चार हैं, तथापि उनमें पढ़े गए मन्त्रों के तीन ही प्रकार रहे हैं, अर्थात् ऋच्, यजुस् और सामन्। ऋग्-यजुः-साम-लक्षणक (मनु १,२३) त्रिवर्गता के आधार पर ही वेद-चतुष्टय की 'त्रयी विद्या' के नाम से प्रसिद्धि हुई (शब्रा ४,६,७,१)। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि पहले तीन वेद ही थे और अथर्ववेद पीछे का है।

परन्तु पीछे आकर, प्रतीत होता है, अथर्ववेदियों की जादू-टूणा आदि घोर अभिचारकर्मों में विशेष प्रवृत्ति के कारण दूसरे लोग उनसे भयभीत और आशङ्कित रहने और अथर्ववेद के प्रति उपेक्षा करने लगे थे। इसी कारण, और पीछे आकर, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद ही प्रामाणिक हैं, अथर्ववेद की मान्यता उन की अपेक्षा कम है, ऐसी धारणा बन गई थी। संभवतः, जनता की इस उपेक्षामयी धारणा का प्रतीकार करने के लिए ही मूलतः १८ काण्डों वाले अथर्ववेद का पुनः संस्करण किया गया। उसके फल-स्वरूप पहले ऋग्वेद से बहुत-कुछ मिलता-जुलता १९वां काण्ड बढ़ाया गया और फिर २०वां काण्ड और जोड़ दिया गया, जिस में साक्षात् ऋग्वेद के ही सूक्त उठा कर रख लिये गये। साथ ही, पहले के १८ काण्डों के अन्दर भी अनेक तात्विक, विषयों का पर्याप्त भाग प्रभावशाली प्रकार से मिला दिया गया। इस तरह से अथर्ववेद का वेद-युग के समग्र ज्ञान के प्रतिनिधि-संग्रह के रूप में विकास हुआ।

७. ब्राह्मण :

ऊपर कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय आदि संहिताओं के प्रसंग में कहा जा चुका है कि उन ग्रंथों में मूल मन्त्रों अर्थात् ऋचाओं और यजुओं के साथ कर्मकाण्डीय व्याख्यान-स्वरूप ब्राह्मण-संज्ञक गद्यात्मक भाग का भी संमिश्रण पाया जाता है। ऐसा लगता है कि शाखान्तरीय ऋषियों में से सर्वप्रथम शुक्ल यजुर्वेदी वाजसनेयी आदिकों को ही अपनी-अपनी शाखा के पृथक्-पृथक् ब्राह्मण ग्रंथों की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी। तदुपरान्त उन्होंने अवश्य इस ओर भरसक प्रयत्न किया होगा, जिसका सूचक 'शतपथ' ब्राह्मण है जो ब्राह्मण ग्रन्थों में श्रेष्ठ समझा जाता है। इस ग्रन्थ से प्रतिस्पर्धित-से होकर ही तैत्तिरीय शाखा वालों ने 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' नामक अपने पृथक् ब्राह्मण ग्रन्थ की भी

रचना की। कृष्ण और शुक्ल यजुर्वेदों की अन्य शाखा वालों ने भी सम्भवत: अपने-अपने ब्राह्मण ग्रन्थ बनाये होंगे। उन में से केवल शुक्ल यजुर्वेदी काण्व और माध्यन्दिन, इन दो शाखाओं के समान नाम वाले और कुछ ही अंशों में एक दूसरे से भिन्न दो 'शतपथ' ब्राह्मण मिलते हैं।

आरम्भ में, बहुत समय तक ऋग्वेदी, सामवेदी और अथर्ववेदी ऋषियों को अपने-अपने ब्राह्मण ग्रन्थ बनाने की विशेष अपेक्षा प्रतीत नहीं हुई होगी। कारण, सभी बड़े-बड़े यज्ञों को वे आपस में मिल कर ही सम्पन्न करते थे। जैसा ऋग्वेद (१०, ७१, ११) में कहा है, होता ऋचाओं को पढ़ता था, उद्गाता सामों को गाता था, अध्वर्यु यजुओं को पढ़ता और कर्म-विधि को सम्पन्न करता-कराता था और ब्रह्मा आथर्वणिक जंत्रों-मंत्रों द्वारा विघ्न-विनाश करता रहता था। सम्भवतः, पहले अनेक ऐसे ऋषि रहे होंगे, जिन्हें अपने वेद के साथ ही एक, दो या तीनों अन्य वेद भी उपस्थित थे। हो सकता है, आजकल के प्रचलित द्विवेदी, त्रिवेदी और चतुर्वेदी शब्द उसी प्राचीन परम्परा की ओर संकेत करते हों। धीरे-धीरे समय आया होगा जब परिमित शक्ति और ईर्ष्या आदि के कारण 'स्वाध्याय' अर्थात् अपनी-अपनी शाखा मात्र के पठन-पाठन तक ही वेद-पाठ सीमित होता गया होगा। उसी युग में ऋग्वेदी, सामवेदी और अथर्ववेदी ऋषि-कुलों ने कर्मकाण्ड के सम्पादन में अपनी-अपनी स्वतन्त्रता स्थापित करने और उसके द्वारा अपने-अपने यजमान-वर्ग को अपने-अपने वशीभूत किये रहने के भाव से अपने-अपने ब्राह्मण ग्रन्थ अलग बनाए होंगे। उन वैदिक ऋषियों के चलाए विभिन्न कुलों की ऐसी प्रवृत्ति में ही, प्रतीत होता है, वह विषैला बीज निहित था जिसने उत्तरोत्तर अधिकाधिक बढ़ती गई जात-पाँत की भेद-भावना के घिनौने रूप में पनप-पनप कर सहस्रों वर्षों से

एक भारतीय को दूसरे भारतीय से रोटी-बेटी के आपस के सामाजिक व्यवहार की दृष्टि से विच्छिन्न रखते हुए राष्ट्रीय और मानवीय भावनात्मक एकता की स्थापना के मार्ग में अत्यन्त दुष्पार पहाड़ खड़ा कर रखा है।

इस समय यजुर्वेद के उक्त दोनों शतपथों और तैत्तिरीय ब्राह्मण के अतिरिक्त ऋग्वेद के ऐतरेय और कौषीतकि (अथवा) शांखायन ब्राह्मण, सामवेद के ताण्ड्य, जैमिनीय, दैवत, षड्विंश, सामविधान, संहितोपनिषद्, आर्षेय, जैमिनीय आर्षेय, वंश, तथा मन्त्र ब्राह्मण एवं अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण मिलते हैं।

आरण्यक :

ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना यज्ञों के विधान और विवरण स्पष्ट रूप से देने के लिए हुई। अतः, विधि और अर्थवाद ही उनके स्वरूप के मुख्य अंग रहे। परन्तु उनके बनाने वाले ऋषि लोग याज्ञिक मात्र न थे, विचारक भी थे। वे विभिन्न याज्ञिक कर्मों के तात्त्विक और औपचारिक भावों की गवेषणा भी किया करते थे। यही यज्ञक्षेत्रीय ज्ञान-विज्ञान की चर्चाएँ 'आरण्यक' कहलाने वाले ग्रंथों का मुख्य विषय है। ऐसी चर्चाएँ ऋषियों के आश्रमों तथा यज्ञ-मण्डपों के भीतर चलती रहती थीं। यह ठीक नहीं प्रतीत होता है कि ऐसी चर्चाएं बस्ती से दूर निकल कर कहीं जंगल के किसी कोने में ही की जाती थीं। इस प्रकार की कल्पना 'आरण्यक' शब्द को भ्रान्ति-वश 'अरण्य' शब्द से व्युत्पन्न मानने के कारण ही की गई होगी। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्त में, पीछे से, परिशिष्ट के रूप में जोड़े जाने के कारण प्रकृत ग्रन्थों का 'आरण्यक' नाम पड़ा होगा और यह शब्द 'आलम्बन' के

पर्यायभूत (आरम्भण>) '*आरण' शब्द से <'तद्धितवृत्ति' में व्युत्पन्न हुआ होगा। सामवेद के पूर्वाचिक के अन्त में जुड़े हुए परिशिष्ट को भी, संभवतः, इसी कारण 'आरण्यकाण्ड' कहा जाता है जिसे जंगल में जाकर पढ़ने के बारे में कभी किसी ने नहीं कहा।

आरम्भ में ये आरण्यक ग्रन्थ ब्राह्मण ग्रन्थों के साथ उनके अन्तिम भागों के रूप में जुड़े रहते थे। शुक्ल यजुर्वेदियों का 'बृहदारण्यक' अभी तक उनके शतपथ ब्राह्मण के १४वें काण्ड के अन्तिम रूप में ही पाया जाता है। धीरे-धीरे ऐसा लगने लगा कि इन ग्रन्थों का विचारात्मक विषय ब्राह्मण ग्रन्थों के कर्मकाण्ड-स्वरूप मुख्य विषय से ठीक मेल नहीं खाता। परिणामतः, इनका पृथक् ग्रन्थों के रूप में विकास होने लगा। तैत्तिरीय यजुर्वेदियों का तैत्तिरीयारण्यक और ऋग्वेदियों के ऐतरेयारण्यक और शांखायनारण्यक इस प्रकार के पृथक् ग्रन्थों के रूप में इस समय उपलब्ध होते हैं। अन्य शाखाओं के आरण्यक ग्रन्थ भी प्रचलित हुए थे। प्राचीन साहित्य में उनके सम्बन्ध में कहीं-कहीं संकेत पाये जाते हैं। संभवतः, वे सब अब लुप्त हो चुके हैं।

९. उपनिषद् :

ऊपर कहा जा चुका है कि ऋषियों के कहे मूल-मन्त्रों की सृष्टि पहले से चली आ रही याज्ञिक पृष्ठभूमि के उपाश्रय से हुई थी और अनेक मन्त्र ऐसे भी कहे गये थे जो साक्षात् यज्ञ-परक ही थे। मन्त्रों में यत्र-तत्र याज्ञिक विचार और उपचार भी पाये जाते थे। इन्हीं के आधार पर याज्ञिक कर्म-कलाप के विहित प्रवर्तन और स्वरूप-विवरण के निमित्त ब्राह्मण ग्रन्थों का और मन्त्र-संकेतित

याज्ञिक विचार के और अधिक विस्तार के निमित्त आरण्यक ग्रन्थों का विकास हुआ। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मंत्रों में उक्त याज्ञिक प्रकरणों के अतिरिक्त अन्य अनेक प्रकरण भी उपनिबद्ध हुए थे। उन प्रकरणों के कितने ही स्थलों में इस रहस्यमय संसार के सम्बन्ध में परम सूक्ष्म तत्त्व-विवेचन के अति गम्भीर संकेत मिलते हैं‡। कई-एक अंशों में इन संकेतों के विचारों की उड़ान से बढ़ी हुई उड़ान विचार-क्षेत्र में अब तक भी नहीं लगाई जा सकी। परन्तु पीछे आ कर, कर्मकाण्ड की प्रधानता के अत्यधिक बढ़ जाने के कारण ऐसा लगने लगा कि, मानो, ब्राह्मणों की ही भाँति मूल मन्त्रों में भी कर्मकाण्ड की ही मुख्यता है और उनका उसी की निष्पत्ति में परम तात्पर्य है। परन्तु वास्तव में स्थिति यह थी कि कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड की दोनों ही धाराएँ बहुत पहले से समानान्तर होकर चलती आती थीं। इनमें से कर्मकाण्ड की धारा जैसे ब्राह्मण-ग्रन्थों के रूप में विवृद्ध हुई, वैसे ही ज्ञानकाण्ड की धारा भी उपनिषद्-नामक ग्रन्थों के रूप में विस्तृत हुई। इसी कारण उपनिषत्-साहित्य को 'वेदान्त' अर्थात् 'वेद-मत' भी कहा गया है। इस शब्द में तथा 'कृतान्त', 'राद्धान्त' और 'सिद्धान्त' शब्दों में उत्तरपद के रूप में पढ़ा गया 'अन्त' शब्द 'मन्तव्य' अथवा 'तात्पर्य' का वाचक होता हुआ 'अर्थ' शब्द का सगोत्र पर्याय समझ लेना चाहिए, 'अवसान' या 'समाप्ति' का वाचक नहीं। उपनिषदों में जो कहीं-कहीं कर्मकाण्ड की हीनता

---

‡जैसे, देखें ऋ १, ९३, ४; १६४, ६; ४६; ३, ५४, ५; ८; ८, ५८, २; १०, ८२, ६; ७; १२९, १—७; अ १०, २, १४; ७, २१; ८, ६; ११; २८; २९; य ३२, १; ८; ९; ४०, ४; ५.

कही है, उसका भी बीज साक्षात् संहिताओं के मन्त्रों में मिलता है। (तु० ऋ १०, ८२, ७)। अतः, उपनिषदों के ऐसे वचनों को उनके द्वारा कर्मकाण्ड के विरुद्ध उठाये गये किसी सर्वथा नवीन सांप्रदायिक आन्दोलन का संकेत कहना अनावश्यक है। यह भी स्मरण रखने योग्य है कि उपनिषदों में जहाँ सामान्यतः ऐहिक और आमुष्मिक, दोनों ही प्रकार के सुखों से उदासीन मोक्ष-मार्ग का उपदेश पाया जाता है, वहां मोक्ष-पद की प्राप्ति के साधन के रूप में यज्ञादि कर्मों के त्याग का नहीं, प्रत्युत उनसे प्राप्य फलों की आसक्ति के त्याग का ही प्रायः निर्देश किया गया है। कहीं-कहीं यज्ञादि कर्मों की प्रशंसा भी की गई है। ईशोपनिषद् (मं० २) में तो यहाँ तक कह दिया गया है कि कर्म-निरत रहते हुए ही मनुष्य मोक्ष लाभ कर सकता है। अतः, यही कहते बनता है कि उपनिषदों में कर्म-सापेक्ष एवं कर्म-निरपेक्ष, दोनों ही प्रकार के मोक्ष-मार्ग के संकेत मिलते हैं। इन में से प्रथम प्रकार के साथ उत्तरकालीन गृहस्थ 'सन्त-मत' की, और द्वितीय प्रकार के साथ श्रामणिक और वैदिक, दोनों संन्यास-धर्मों की परम्पराएँ मेल खाती हैं। इस प्रकार, वर्तमान हिन्दू, बौद्ध और जैन धर्म, तीनों ही, ऐतिहासिक विकास-क्रम की दृष्टि से उपनिषद्-रूपी सेतु द्वारा वेदों से जा जुड़ते हैं।

इन ग्रन्थों में ईश्, तत्, सत्, एक, आत्मन्, ब्रह्मन्, भूमन्, आदि अनेक नामों द्वारा सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व-चिन्तन करते हुए जगद्-माया के अनिर्वचनीय मूल का, संकेतात्मक होता हुआ भी, यथा-शक्य अति सुन्दर, सजीव और प्रेरणात्मक वर्णन पाया जाता है। संभवतः परमतत्त्व विषयक 'उप' अर्थात् 'उच्चतम', 'निषद्' अर्थात् 'उपदेश' प्रस्तुत करने के कारण ही इन ग्रन्थों का 'उपनिषद्' नाम पड़ा होगा। इसलिए यहाँ पर 'नि √सद्' के धातु-भाग को

शब्दार्थक '√कथ्' और आंग्ल √से (Say) का सगोत्र कहा जा सकता है (तु० अ १९, ४१, १; केउ ४, ७; यास्क ३, १२; पा ४, ३, ७३; ४, १२)।

इस समय पाये जाने वाले उपनिषदों की संख्या २०० से ऊपर हो चुकी है। इनमें से ईश, केन, कठ, प्रश्न, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर, कौषीतकि और महानारायण प्राचीन वैदिक संप्रदायों के अन्तर्गत कहे जाते हैं, जो, संभवतः, महात्मा बुद्ध से पूर्ववर्ती युगों में प्रसिद्ध हुए थे। शेष उपनिषदें अर्वाचीन वैष्णव, शैव, शाक्त, योग, वेदान्त और अन्य सामान्य या संमिश्र संप्रदायों के अन्तर्गत पीछे आकर प्रचलित हुए। इनमें से कोई-कोई तो अत्यन्त नवीन हैं। जैसे, पिण्ड-ब्राह्माण्डोपनिषद्, जिसे स्वामी केशवानन्द ने चालू शताब्दी के प्रारम्भ में ही रचा था। सभी उपनिषदों में, चाहे वे प्राचीन हों और चाहे नवीन, पूर्वोक्त प्रकार से, वैदिक बीज से, साक्षात् अथवा परम्परागत क्रम से विरूढ हो कर पनपे अध्यात्म-प्रधान मोक्ष-मार्ग का उपदेश ही सामान्यतः प्रतिपादित है।

१०. श्रुति और स्मृति :

वैदिक वाङ्मय के घटक-स्वरूप संहिता-ग्रन्थ, ब्राह्मण-ग्रन्थ, आरण्यक-ग्रन्थ और उपनिषद्-ग्रन्थ, सभी मिलकर 'श्रुति' अर्थात् 'मूल वचन' कहे जाते हैं। इस संदर्भ में √श्रृ (श्रु) शब्दार्थक √स्वृ और √कृ का पर्याय है और इसका 'अध्ययन' के अर्थ में तात्पर्य है। इसे 'श्रवण' अर्थात् सुनने के अर्थ में नहीं समझना चाहिए। यद्यपि संहिताओं के मन्त्र ही वस्तुतः 'मूल वचन' थे, तथापि उनके ही प्राचीनतम ऋषियों द्वारा किये गये व्याख्यान-स्वरूप होने के कारण

वैदिक साहित्य के ब्राह्मणादि शेष भाग भी गौण रूप से 'वेद' और 'श्रुति' इन दोनों ही नामों से प्रसिद्ध हो गये। 'श्रुति' के तात्पर्यों का चिन्तन करते हुए उत्तरकालीन ऋषियों और आचार्यों ने अनेक विचारात्मक और विधानात्मक शास्त्रों की रचना की। उनके 'चिन्तन' के फलस्वरूप होने के कारण, 'श्रुति' से पृथग्भूत इन सब विविध उपदेशात्मक ग्रन्थों की सामान्य संज्ञा 'स्मृति' पड़ी। इस संदर्भ में स्मृति शब्द का मूल चिन्तनार्थक √स्मृ 'चिन्तायाम्' में समझना चाहिए, न कि स्मरणार्थ √स्मृ 'आध्याने' में, जैसा कि साधारणतः समझा जाता है।

११. वेदाङ्ग :

वैदिक ऋषि-कुलों में मुख्यतः वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों का पठन-पाठन चलता था। उस अभ्यास-क्रम में दो बातें मुख्य होती थीं, उच्चारण, पाठ अथवा गान शुद्ध हो और पद-पदार्थ का ठीक बोध हो। साथ ही, व्यावहारिक दृष्टि से, शिष्यों को यह भी परिज्ञान कराना होता था कि वह-वह यज्ञ-कर्म किस-किस समय और किस-किस प्रकार करना-कराना चाहिए तथा वैयक्तिक एवं सामाजिक स्तरों पर आचरण कैसा-कैसा होना चाहिए। बड़े-बड़े ऋषि-कुलों ने इन विषयों के यथावत् अनुशासन अर्थात् अध्यापन के लिए, आधुनिक विश्वविद्यालयों की ही भाँति, अपने-अपने पाठ्य-ग्रन्थ बनाकर चालू कर रखे थे। इन ग्रन्थों के अभ्यास द्वारा उपर्युक्त सभी अपेक्षित बातों का बोध हो जाता था। इसीलिए इन्हें 'लक्षण-ग्रन्थ' या 'लक्षण शास्त्र' कहा जाता था। इन्हीं के द्वारा वेदों के बारे में सम्यक् 'लक्षण' अर्थात् 'दर्शन' लाभ हो सकता था। यही कारण था कि इन्हें वेदों के 'अङ्ग' अर्थात् 'बोधक' भी कहते थे। प्रकृत 'अङ्ग'

शब्द √अङ्ग 'लक्षणे' से निष्पन्न कहना चाहिए। इसे शरीरादि संघात के घटक-स्वरूप 'अङ्ग' शब्द से भिन्न समझना चाहिए। ये ग्रन्थ वैदिक विद्याओं के बोधक थे, वे 'वेद' या 'श्रुति' के अन्तर्गत होते हुए भी उसके अवयव-स्वरूप नहीं थे।

इन वेदाङ्गीय ग्रन्थों द्वारा मुख्य रूप से छः विद्याओं का अभ्यास कराया जाता था। इन विद्याओं के नाम थे शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दस् और ज्योतिष। इन 'अङ्गों' अर्थात् विद्याओं के अभ्यास का इतिहास बहुत पुराना है। मुण्डकोपनिषद् (१, १, ५) में तो इन्हें यही छः नाम ले कर इसी क्रम से परिगणित किया ही है, संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों और अन्य उपनिषदों में और भी ऐसे अनेक संकेत मिलते हैं जिन से इन विद्याओं का पर्याप्त व्यापक प्रचार सूचित होता है।

१२. शब्दशास्त्र और छन्दस् :

'शिक्षा-वेदाङ्ग' उच्चारण-शास्त्र का पर्याय है। यह शब्द √शास् से पाठ-विधि के अर्थ में निष्पन्न 'शिष्या' शब्द का रूपान्तर है। इस समय मुद्रित और अमुद्रित बहुत-सी शिक्षाएँ मिलती हैं, जिनमें से आपिशलि, नारदीय, पाणिनीय, भारद्वाज, माण्डूकी, याज्ञवल्क्य और शैशिरीय शिक्षाओं के संस्करण ही कुछ-कुछ व्यवस्थित पाठ देते हैं। प्रातिशाख्य ग्रन्थों में उनकी अपनी-अपनी वेद-शाखा के उच्चारण, सन्धि, स्वर, पदपाठ आदि शिक्षा तथा व्याकरण, दोनों वेदाङ्गों के क्षेत्रगत प्रकरणों का संमिश्रण पाया जाता है। इस समय ८ प्रातिशाख्य उपलब्ध हैं। इनमें से ऋग्वेद का एक, सामवेद के तीन (ऋक्तन्त्र, पुष्पसूत्र, निदानसूत्र), तैत्तिरीय यजुर्वेद

का एक, वाजसनेय-यजुर्वेद का एक और अथर्ववेद के दो हैं जिनमें से एक का नाम शौनक चतुरध्यायिका है। विशुद्ध और सम्पूर्ण वैदिक व्याकरण का कोई प्राचीन ग्रन्थ नहीं मिलता। पाणिनीय व्याकरण शास्त्र लौकिक संस्कृत के शिष्ट प्रयोग को मुख्य रूप से, और वैदिक प्रयोग को गौण रूप से, लक्ष्य में रखकर प्रवृत्त हुआ था। ऐसा होते हुए भी, पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि द्वारा अनुशिष्ट 'त्रिमुनि व्याकरण' में ही अब वैदिक व्याकरण की सर्वाधिक सामग्री उपलब्ध होती है। इसी प्रकार यास्काचार्य का (निघण्टु-सहित) निरुक्त शास्त्र प्राचीन निर्वचन-सम्बन्धी वेदाङ्ग के अनुपम प्रतीक के रूप में उपलब्ध है। यास्क पाणिनि से पहिले हुए प्रतीत होते हैं। उनसे भी पूर्व अन्य अनेक आचार्य हुए थे जिन्होंने शिक्षा, व्याकरण और निरुक्त के समुच्चय-स्वरूप शब्दशास्त्र की बहुमूल्य सूक्ष्म विवेचनाएं की थीं, परन्तु उक्त उत्तरवर्ती आचार्यों ने उनके नाम आदर-पूर्वक ले-ले कर उनकी बातों को अपनी रचनाओं में संकेतित कर दिया था। अतः उन पूर्वयुगीय आचार्यों के ग्रन्थ तो लुप्तप्राय हो चुके हैं, हां, उनके पवित्र नाम अब भी चले आते हैं। पूर्वोक्त और अन्य अनेक प्राचीन भारतीय शब्द-शास्त्री आचार्यों की महार्घ देन के पुण्य प्रताप से भारत को विश्व भर की भाषाविज्ञानीय परिषदों में विशेष मान प्राप्त है। आधुनिक भाषा विज्ञान के विकास में भारत की इस देन का महत्त्व सर्वत्र मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया जाता है। वैदिक छन्दों का विशुद्ध वेदाङ्ग-ग्रन्थ नहीं मिलता। इस विषय की चर्चा, लौकिक छन्दों से मिली-जुली, पिङ्गल के छन्दःसूत्र में पाई जाती है। इस के अतिरिक्त ऋक्-सर्वानुक्रमणी, बृहद्देवता, अथर्ववेद-सर्वानु-क्रमणी आदि अनुक्रमणी ग्रन्थों में भी ऋषियों और देवताओं के

साथ ही छन्दों की भी परिगणना की गई है। ऋक्प्रातिशाख्य, निदान सूत्र आदि प्रातिशाख्य ग्रन्थों में भी वैदिक छन्दों के बारे में प्रकरण पाये जाते हैं।

१३. कल्प :

वैदिक युग की धारणा के अनुसार मानव-जीवन कर्म-प्रधान होना चाहिए। वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक स्तरों पर मानव का शास्त्रोक्त एवं लौकिक समुचित आचार-व्यवहारात्मक कर्म उसका धर्म कहलाता है। धर्मसूत्रों में इसी धर्म का प्रतिपादन किया गया है। ऋषिकुलों के अन्दर अपने-अपने आचार्यों के चलाये हुए धर्म-सूत्रों का पठन-पाठन चलता था। अध्यापक-वर्ग और उन के छात्र-गण इन्हीं के अनुसार आचरण करने का यत्न करते थे।

उस समय शिष्टाचार-रूपी धर्म-कर्म के अतिरिक्त मानवेतर दैवी और आसुरी शक्तियों में विश्वास के आधार पर दैवी शक्तियों का प्रसाद और आसुरी शक्तियों का निग्रह सिद्ध करने में मानव की सहायता कर सकने वाला यज्ञादिक क्रियाओं के रूप में एक दूसरा अतिविस्तृत कर्म-कलाप भी प्रचलित था। इन कर्मों के अन्तर्गत दर्श-पौर्णमास, चातुर्मास्य, अग्निष्टोम आदि बड़े-बड़े यज्ञों को श्रौत विधि के अनुसार वेदी की रचना के साथ, अग्न्याधान-पूर्वक पूर्व दिशा में आहवनीयाग्नि, पश्चिम दिशा में गार्हपत्याग्नि एवं दक्षिण दिशा में दक्षिणाग्नि, इन तीन अग्नियों की स्थापना कर के होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा, इन चार मुख्य ऋत्विजों और उन में से प्रत्येक के साथ जुड़े हुए कई-कई अन्य ऋत्विजों के सहयोग द्वारा सम्पन्न किया जाता था। इन यज्ञों

को श्रौत कर्म कहते थे। श्रौत सूत्रों में इन्हीं का विधान किया गया है।

उक्त विश्वास पर आश्रित कर्मकाण्ड का दूसरा विभाग गृह्य कर्म कहलाता था। कारण, इन कर्मों को सम्पन्न करने के लिए घर से बाहर विस्तृत वेदी की रचना और अग्नियों की स्थापना की अपेक्षा नहीं रहती थी। घर के अन्दर ही सामान्य विधि से अग्नि जला कर उस में इन्हें सम्पन्न किया जाता था। इनके लिए अनेक पुरोहितों की भी आवश्यकता नहीं होती थी। इन गृह्य कर्मों में ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ और बलि-वैश्वदेवयज्ञ ये पञ्च महायज्ञ प्रतिदिन किये जाने वाले मुख्य कर्म थे। इनके अतिरिक्त गर्भाधान से लेकर मरणपर्यन्त के जीवन में ओत-प्रोत हो रहे षोडश संस्कार थे, जिन में मुण्डन, उपनयन, विवाह और अन्त्येष्टि कर्म मुख्य थे। गृह-प्रवेश, भूमिकर्षण तथा सस्यवर्धन आदि अन्य सभी प्रकार के जीवन-व्यापारों के भी प्रारम्भ में विशेष गृह्य इष्टियों अर्थात् लघु यज्ञों को किया जाता था। ये ही सब गृह्य कर्म गृह्य सूत्रों में विहित हैं।

पूर्वोक्त श्रौत कर्मों, गृह्य कर्मों और धर्माचारों का सामान्य नाम 'कल्प' पड़ गया था। इसी कारण कल्पसूत्रों में सभी श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र सम्मिलित रहते थे। हो सकता है, प्रकृत 'कल्प' शब्द 'कर्म' शब्द का ही पर्यायभूत रूपान्तर हो। ऐसा होने पर, कल्प वेदाङ्ग का संज्ञाकरण सर्वथा अन्वर्थक हो जायेगा। कारण, इस में उक्त प्रकार से मानव द्वारा करने योग्य यज्ञात्मक और आचारात्मक उभयविध कल्पों अर्थात् कर्मों का विधान पाया जाता है।

इस समय इस वेदाङ्ग के अन्तर्गत लगभग २५ शाखाओं से संबन्धित ग्रन्थ पर्याप्त संख्या में पाये जाते हैं। इन में श्रौतसूत्रों के अन्तर्गत आपस्तम्ब, आश्वलायन, काठक, कात्यायन, जैमिनीय, द्राह्यायण, बौधायन, मानव, लाट्यायन, वाधूल, वाराह, वैखानस, वैतान और हिरण्यकेशी मुख्य हैं। इन में से कई-एक के परिशिष्ट के रूप में शुल्बसूत्र भी सम्मिलित हैं जिनमें भारतीय ज्यामितिशास्त्र का प्राचीनतम स्वरूप पाया जाता है। गृह्यसूत्रों के अन्तर्गत आग्निवेश्य, आपस्तम्ब, आश्वलायन, काठक, कौषीतकि, कौशिक, गोभिल, जैमिनीय, द्राह्यायण, पारस्कर, बौधायन, बैजवाप, भारद्वाज, मानव, वाराह, वैखानस और हिरण्यकेशी मुख्य हैं। धर्मसूत्रों के अन्तर्गत आपस्तम्ब, काश्यप, गौतम, विष्णु, वासिष्ठ, वैखानस, सुमन्तु और हिरण्यकेशी मुख्य हैं।

१४. ज्योतिष :

वैदिक साधक का पूर्वोक्त 'कल्प' द्वारा कल्पित लौकिक एवं पारलौकिक उद्देश्यों पर आधारित जीवन-क्रम अत्यन्त व्यवस्थित रहता था। प्रत्येक छोटी से छोटी विधि का भी अपना मुहूर्त अर्थात् युक्त समय निश्चित था। इसी कारण बहुत पहले से नक्षत्रों, ग्रहों और उपग्रहों की खगोल में प्रतिक्षण बदल जाने वाली विभिन्न स्थितियों की ओर उसका ध्यान आकर्षित हो चुका था और वह जान गया था कि इन स्थिति-परिवर्तनों द्वारा काल-चक्र की अविच्छिन्न रूप से हो रही गति को क्योंकर मापा जा सकता है। साथ ही, उस का यह भी विश्वास था कि अमुक विशेष समय में किया जा कर ही अमुक विशेष यज्ञादि कर्म अभीष्ट फल प्रदान कर पाता है। स्वभावतः, उसने नक्षत्र-विद्या में बड़ी अभिरुचि-

पूर्वक प्रगति की जिस के फल-स्वरूप प्राचीन भारत अङ्कगणित, बीजगणित, रेखागणित विद्याओं और इन पर आधारित नक्षत्र-विद्या के विकास द्वारा आज से से आठ-नौ सौ बरस पहिले तक संसार भर में प्रसिद्ध रहा। ये ही विद्याएं ज्योतिष वेदाङ्ग का विषय हैं। वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत यह वेदाङ्ग बीज रूप से पाया जाता है। इस समय ऋग्वेद और यजुर्वेद के दो पृथक् 'वेदाङ्गज्योतिष' उपलब्ध हैं। 'आथर्वणज्योतिष' भी अलग मिलता है।

वेदाङ्ग-साहित्य प्रायः सूत्रों के रूप में रचा गया था। न्यूनतम पद-प्रयोग द्वारा एक-एक प्रतिपाद्य विधि आदि का प्रवचन करना इस रचना की विशेषता थी। सूत्र की लघुता के निमित्त जब एक अक्षर भी कम हो सकता था, तो, कहा जाता है, सूत्रकार को पुत्रजन्मोत्सव के समान प्रसन्नता होती थी। पाणिनि की अष्टाध्यायी में यह रचना, मानो, अपने विकास की पराकाष्ठा तक जा पहुँची थी।

१५. अन्य शास्त्र :

पूर्वोक्त प्रकार से, वेदों के अध्ययन और अध्यापन की विशिष्ट वैज्ञानिक अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए उक्त छः अङ्गों अर्थात् विद्याओं का विकास हुआ और उनसे सम्बन्धित ग्रन्थों की रचना हुई। उसी स्रोत से प्रेरणा पाकर स्मृतियों और धर्मशास्त्रों एवं रामायण, महाभारत तथा पुराणों के विशाल साहित्य का विस्तार हुआ। उधर की ही मौलिक प्रेरणाओं के परिणाम-स्वरूप पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, सांख्य, योग, न्याय और वैशेषिक सूत्रों की रचना हुई, जिनमें प्राचीन भारत का वैदिक तत्त्व-ज्ञान निहित है। ये ही प्रसिद्ध

दार्शनिक सम्प्रदाय वेदों के छः उपाङ्ग कहलाते हैं। इसी प्रकार आयुर्वेद, गन्धर्ववेद, धनुर्वेद और अर्थवेद, इन चार विद्याओं की और आगे विवृद्धि हुई और इन्हें उपवेदों का नाम दिया गया। इन के अतिरिक्त नीतिशास्त्र, अलङ्कारशास्त्र और वास्तुशास्त्र आदि उत्तरोत्तर विकसित होती रहीं प्राचीन भारत की अन्य सभी विद्याएं भी मूलतः पूर्वोपवर्णित वैदिक वाङ्मय पर ही आश्रित थीं। इन्हीं प्राचीन भारतीय विद्याओं के अन्दर ही श्रामणिक अर्थात् बौद्ध और जैन शास्त्रों को भी सम्मिलित समझना चाहिए। कारण, इन की भी मौलिक प्रेरणाएं, तत्त्वांश में, वैदिक प्रेरणाओं से अभिन्न हैं। अतः, वैदिक साहित्य-राशि को ही युग-युगान्तर से बहती चली आ रही भारत की शाश्वत वाङ्मयी गंगा की गंगोतरी कहना सर्वथा उचित होगा। यह तथ्य भारतीय जनता की भावनात्मक एकता के लिए अत्यन्त महत्त्व-युक्त है।



वेद-सार (१)

The Vedic Essence (I)

१. देव-प्रीतिः

१. आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतो,
ऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः ।
देवा नो यथा सदमिद्वृधे असन्-न ,
अप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे ॥
२. देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां,
देवानां रातिरभि नो निवर्तताम् ।
देवानां सख्यमुपसेदिमा वयं,
देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ॥२॥

२. स्वास्थ्ययुत् पूर्णमायुः

३. भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा,
भद्रं पश्येमाऽक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर् ,
व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
४. शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा,
यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम् ।
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति,
मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः ॥

१. ऋ. १,८९,१; २. ऋ. १.८९, २; ३. ऋ. १, ८९, ८;
४. ऋ. १,८९,९.

१. देव-प्रीति—

१. हमें सब ओर से भली भावनाएँ मिलें। उनमें धोखा न हो। उन में बाधा न हो। वे खुली और स्पष्ट हों। उलझी न रहें। तभी देवता हम से सदा तुष्ट होते हुए प्रतिदिन हमारी रक्षा और वृद्धि कर सकेंगे, हमारा साथ दे सकेंगे।

२. हमारे लिए अनुकलता-युक्त हुए देवताओं की भली, कल्याणमयी धारणा तथा उनके दान का मुख हमारी ओर मुड़ा रहे। हमने देवताओं की मित्रता प्राप्त की है। वे हमारी आयु बढ़ावें और हम पूर्ण जीवन पावें।

२. स्वास्थ्य-भरी पूर्ण आयु—

३. हे देवताओ! हम कानों से अच्छे प्रकार सुनते रहें। हे पूजनीयो! हम आंखों से अच्छे प्रकार देखते रहें। हमारा अंग-अंग स्थिर हो, जिस से हमारे तन बलवान् हों और हम सौ वर्ष की या उस से भी अधिक लम्बी देव-कृत आयु प्राप्त करें।

४. हे देवताओ! आपने सौ वर्ष के आस-पास ही, हमारे तनों का बुढ़ापा निश्चित किया है। तब तक हमारे पुत्र और पुत्रिआँ भी अपनी-अपनी संतान के पिता अथवा माताएँ बन चुकते हैं। हम पूर्ण आयु पर्यन्त जीते रहें। हमारी आयु की कड़ी कहीं बीच में टूट न जाए।

१. ऋ. १, ८९, १; २. ऋ. १, ८९, २; ३. यजु. २५, २१; ४. १, ८९, ९.

५. मा नो हेतिर्विवस्वत,
आदित्या कृत्रिमा शरुः।
पुरा नु जरसो वधीत ॥२॥

३. देवानां प्रियः सुपथः

६. येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः,
समिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभिः।
त आदित्या अभयं शर्म यच्छत,
सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये ॥

७. य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसो,
विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तवः।
ते नः कृतादकृतादेनसस्परि,
अद्या देवासः पिपृता स्वस्तये ॥

८. सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं,
सुशर्माणम् अदितिं सुप्रणीतिम्।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसम्,
अस्रवन्तीम् आरुहेमा स्वस्तये ॥

५. ऋ. ८,६७,२०; ६. ऋ. १०,६३,७; ७. ऋ. १०,६३,८;
८. ऋ. १०,६३,१०.

५. हे आदित्यो ! हमारा जीवन बुढ़ापे के अन्त तक ठीक चले। कहीं उस से पहले ही तीक्ष्ण छुरी के समान काल की कटनी इसे काट न दे।

३ देवताओं का प्रिय सुपथ—

६. हे आदित्यो ! वे तुम ही हो, जिन के प्रति मनु ने सात शीर्षण्य प्राणरूपी होताओं तथा मन को योग-युक्त करके याज्ञिक अग्नि को प्रचण्ड किया था और उसमें भक्ति-भाव की सर्व प्रथम जोत जगाई थी। आओ, हमें अभय प्रदान करो। हमें सच्चा सुख प्रदान करो। हमारे लिए ऐसे सुपथों का विस्तार करो, जिन पर हम सुख-पूर्वक चल सकें और उसके फल-स्वरूप परम आनन्द को पा सकें।

७. हे आदित्यो ! तुम उत्तम ज्ञान तथा विचार के स्रोत हो। तुम चल-अचल, सकल ब्रह्माण्ड के मालिक हो। हे सब पर अधिकार रखने वाले ! हमें भवसागर से ऐसे पार करो कि पाप हमें छू न पावे, चाहे वह पाप किया जा चुका हो अथवा अभी न किया गया हो, परन्तु करने के लिए सोचा जा रहा हो। ऐसा होने पर ही हम परम आनन्द को पा सकेंगे।

८ आओ, देवताओं की नौका पर चढ़ें, जिससे हम सब परम आनन्द को पा सकें। यह नौका उत्तम रक्षा करने वाली है। यह विस्तृत और विशाल है। यह प्रकाश से युक्त है, यह अनुपम है। यह सुकल्याण से भरी है, यह अखण्डित है। इसकी अत्युत्तम गति है। इसके उत्तम चप्पू हैं, सर्वथा अहानिकारक है। इसमें जल नहीं घुस सकता।

५. ऋ. ८, ६८, २०; ६. ऋ. १०, ६३, ७; ७. ऋ. १०, ६३, ८; ८. ऋ. १०, ६३, १०.

९. विश्वे यजत्रा अधिवोचतोतये,
त्रायध्वं नो दुरेवाया अभिहुतः ।
सत्यया वो देवहूत्या हुवेम,
शृण्वतो देवा अवसे स्वस्तये ॥

१०. अपामीवाम अप विश्वामनाहुतिम्,
अपाऽरातिं दुर्विदत्रामघायतः ।
आरे देवा द्वेषो अस्मद्युयोतन,
उरु णः शर्म यच्छता स्वस्तये ॥३॥

४. देवानामाशीः

११. अरिष्टः स मर्त्तो विश्व एधते,
प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि ।
यमादित्यासो नयथा सुनीतिभिर्,
अति विश्वानि दुरिता स्वस्तये ॥

१२. यं देवासोऽवथ वाजसातौ,
यं शूरसाता मरुतो हिते धने ।
प्रातर्यावाणं रथमिन्द्रसानसिम्,
अरिष्यन्तम आरुहेमा स्वस्तये ॥

९. ऋ. १०,६३,११; १०. ऋ. १०,६३,१२; ११. ऋ. १०, ६३,१३; १२. ऋ. १०,६३,१४.

९. हे सब पूजा-योग्य (देवताओ) ! हमें समझाओ ताकि हम अपनी रक्षा कर सकें । कुटिलता-युक्त, बुरे मार्ग से हमें बचाओ। हे देवताओ ! तुम सुन रहे हो। मेरी इस सच्ची टेर को भी सुनो । मैं सदा सुरक्षित और सुख-युक्त रहूँ ।

१०. हे देवताओ ! रोग को हम से दूर करो। सब प्रकार की अनुदारता को हम से दूर करो। शत्रु की शत्रुता हमारी दुर्गति का कारण न बने । किसी प्रकार भी हमारी हानि न हो—उसे हम से अति दूर भगा दो। हमें अपनी विशाल छत्र-छाया में लो, ताकि हम परम सुख का लाभ कर सकें ।

४. देवों की आशीष—

११. हे आदित्यो ! तुम जिस मनुष्य को सुख-संपन्न करने के लिए सब बुराइओं से उठाकर भले मार्ग पर डाल देते हो, उसकी कभी कोई हानि नहीं होती। वह सब प्रकार से बढ़ता है, उसकी प्रजा बढ़ती चली जाती है, विच्छिन्न नहीं होने पाती ।

१२. हे देवताओ ! हे मरुतो ! तुम हम पर ऐसी कृपा करो कि हम परम सुख के लाभ के लिए उसी तुम्हारे रथ पर चढ़ सकें, जिसे तुम सदा संभाल कर चलाते रहते हो, ताकि तुम्हारे भक्त जन बलवान्, शूरों से युक्त, हित-साधक तथा धनवान् बन सकें। जो रथ प्रतिदिन प्रात: होते ही चल पड़ता है. सीधा इन्द्र-द्वार तक पहुँचा देता है और कभी टूटने-फूटने में नहीं आता ।

९. ऋ. १०. ६३, ११; १०. ऋ. १०, ६३, १२; ११. ऋ. १०, ६३, १३; १२. ऋ. १०, ६३, १४.

१३. स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु,
स्वस्त्यप्सु वृजने स्वर्वति ।
स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु,
स्वस्ति राये मरुतो दधातन ॥

१४. स्वस्तिरिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्-,
वत्यभि या वाममेति ।
सा नो अमा सो अरणे नि पातु,
स्वावेशा भवतु देवगोपा ॥४॥

५. देवानां शान्तिकारिता

१५. शं नो मित्रः शं वरुणः,
शं नो भवत्वर्य्यमा ।
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः,
शं नो विष्णुरुरुक्रमः ॥

१६. शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु,
शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु ।
शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु,
शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः ॥

१३. ऋ. १०,६३,१५; १४. ऋ. १०,६३,१६; १५. ऋ. १, ९०,९; १६. ऋ. ७,३५,८.

१३. हे मरुतो ! हमें विस्तृत मार्गों पर, मरु-स्थलों में, जल-प्रधान प्रदेशों में, सुन्दर बसतिश्रों में श्रौर संतति-वर्धक गृहों में, सर्वत्र, पुष्ट करो जिससे हमें परम सुख का लाभ हो श्रौर हमारी समृद्धि हो।

१४. निश्चय ही, जो श्रेष्ठ, धनवती सुख-साधना हमें श्रभीष्ट प्राप्त कराने के लिए दूर यात्रा में भी हमारे साथ जाती है, वही घर पर, श्रौर बाहर हमारी रक्षा करे। वह हमारे मध्य में उत्तम निवास पावे श्रौर देवगण उसके रखवाले बने रहें।

५. देवों की शांति-कारिता—

१५. मित्र हमारे लिए सुखकारी हो। वरुण हमारे लिए सुखकारी हो। श्रर्यमा हमारे लिए सुखकारी हो। इन्द्र हमारे लिए सुखकारी हो। बृहस्पति हमारे लिए सुखकारी हो। दूर से दूर पहुँचने वाला विष्णु हमारे लिए सुखकारी हो।

१६. विस्तृत प्रकाश वाला सूर्य हमारे लिए सुखकारी होता हुश्रा उदय हो। चारों दिशाएँ हमारे लिए सुखकारी हों। निश्चल पर्वत हमारे लिए सुखकारी हों। नदियां श्रौर जल हमारे लिए सुखकारी हों।

१३. ऋ. १०, ६३,१५; १४. ऋ. १०,६३,१६; १५. ऋ. १, ९०, ९; १६. ऋ. ७, ३५, ८.

१७. शं नो देवः सविता त्रायमाणः,
शं नो भवन्तूषसो विभातीः ।
शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः,
शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शंभुः ॥

१८. शान्ता द्यौः शान्ता पृथिवी,
शान्तमिदमुर्वन्तरिक्षम् ।
शान्ता उदन्वतीरापः,
शान्ता नः सन्त्वोषधीः ॥

१९. शान्तानि पूर्वरूपाणि,
शान्तं नो अस्तु कृताकृतम् ।
शान्तं भूतं च भव्यं च,
सर्वमेव शमस्तु नः ॥

२०. शं नो वातः पवतांऽ,
शं नस्तपतु सूर्यः ।
शं नः कनिक्रदद्देवः,
पर्जन्यो अभि वर्षतु ॥

१७. ऋ. ७,३५,१०; १८. अ. १९,९,१; १९. अ. १९,९,२;
२०. य. ३६,१०.

१७. चमकता हुआ सविता देव हमारे लिए सुखकारी हो। प्रकाशवती उषाएँ हमारे लिए सुखकारी हों। मेघ हमारी प्रजाओं के लिए सुखकारी हो। कृषि का स्वामी हल हमारे लिए सुखकारी हो।

१८. हमारे लिए द्यु-लोक शान्तिकारी हो। हमारे लिए पृथिवी लोक शांतिकारी हो। हमारे लिए यह विशाल अन्तरिक्ष लोक शान्तिकारी हो। हमारे लिए जलयुक्त नदियां शान्तिकारी हों : हमारे लिए ओषधिआं शान्तिकारी हों।

१९. हमारे लिए पूर्वरूप शान्तिकारी हों। हमारे लिए कृत और अकृत शान्तिकारी हों। हमारे लिए जो हो चुका और जो हो रहा है, सभी कुछ शान्तिकारी हो।

२०. वायु हमारे लिए सुखकारी होता हुआ चले। सूर्य हमारे लिए सुखकारी होता हुआ चमके। जल-भरा गर्जता हुआ मेघ हमारे लिए सुखकारी होता हुआ बरसे।

१७. ऋ. ७, ३५, १०; १८. अ. १९. ९, १; १९. अ. १९. ९, २; २०. य. ३६, १०.

२१. द्यौः शान्तिर्, अन्तरिक्ष ँ शान्तिः, पृथिवी शान्तिर्, आपः शान्तिर्, ओषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्, विश्वेदेवाः शान्तिर्, ब्रह्म शान्तिः, सर्व ँ शान्तिः, शान्तिरेव शान्तिः, सा मा शान्तिरेधि ॥५॥

६. जल-देवतानां शान्तिकारिता

२२. आपो हि ष्ठा मयोभुवस्, ता न ऊर्जे दधातन।
महे रणाय चक्षसे ॥

२३. यो वः शिवतमो रसस्, तस्य भाजयतेह नः।
उशतीरिव मातरः ॥

२४. तस्मा अरं गमाम वो, यस्य क्षयाय जिन्वथ।
आपो जनयथा च नः ॥

२५. शं नो देवीरभिष्टय, आपो भवन्तु पीतये।
शं योरभि स्रवन्तु नः ॥

२१. य. ३६,१७; २२. ऋ. १०,९,१; २३. ऋ. १०,९,२; २४. ऋ. १०,९,३; २५. ऋ. १०,९,४.

२१. द्युलोक शान्ति-स्वरूप हो रहा है। मध्य-लोक शान्ति-स्वरूप हो रहा है। पृथिवी-लोक शान्ति-स्वरूप हो रहा है। जल शान्ति-स्वरूप हो रहा है। ओषधिआं और वनस्पतिआं शान्तिस्वरूप हो रही हैं। सब देवता शान्ति-स्वरूप हैं। ब्रह्म शान्ति-स्वरूप है। सर्वत्र शान्ति है। शान्ति है। वही शान्ति मुझे भी प्राप्त हो।

६. जल देवता की शान्तिकारिता—

२२. हे जलो! तुम वस्तुतः सुखकारी हो। वे (तुम) हमें पुष्ट करो, जिस से हम बलवान् महान्, आनन्द-युक्त और प्रकाश-युक्त हो सकें।

२३. हे जलो! तुम स्नेहभरी माता के समान हो। आओ, अपने अधिक से अधिक सुख देने वाले रस का हमें आस्वादन कराओ।

२४. हे जलो! अन्न के लिए हम तुम्हारे पास पहुँचे हैं। हम, उस अन्न के द्वारा, जिसे तुम पैदा करो और बढ़ाओ, ऐश्वर्यवान् हों।

२५. जल देवता हमारे लिए सुखकारी हों, जिससे हमारा प्रभाव बढ़े और हमारी वृद्धि हो। वे सदा सुख और आनन्द को हमारी ओर बहा लावें।

२१. य. ३६, १७; २२. ऋ. १०, ६, १; २३. ऋ. १०, ६, २; २४. ऋ. १०, ६, ३; २५. ऋ. १०, ६, ४.

२६. आपः पृणीत भेषजं, वरूथं तन्वे मम ।
ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥

२७. शं न आपो धन्वन्याः, शमु सन्त्वनूप्याः ।
शं नः खनित्रिमा आपः, शमु याः कुम्भ आभृताः,
शिवा नः सन्तु वार्षिकीः ॥

२८. आपो अस्मान्मातरः शुन्धयन्तु,
घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु ।
विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीर्,
उदिदाभ्यः शुचिरापूत एमि ॥६॥

७. आनन्दमयं जीवनम्

२९. वसन्त इन्नु रन्त्यो,
ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः ।
वर्षाण्यनु शरदो,
हेमन्तः शिशिर इन्नु रन्त्यः ॥

३०. स्योना पृथिवि भव, अनृक्षरा निवेशनी ।
यच्छा नः शर्म सप्रथः ॥

२६. ऋ. १०,९,७; २७. अ. १,६,४; २८. ऋ. १०,१७,१०;
२९. सा. ३,४,२ = ६,४,२; ३०. ऋ. १,२२,१५.

२६. हे जलो ! मुझे कल्याणकारी औषध प्रदान करो, ताकि मेरा शरीर ठीक रहे और मैं लगातार सूर्य का दर्शन करता रहूँ।

२७. मरुप्रदेश में पाए जाने वाले जल हमारे लिए सुखकारी हों। कछार प्रदेश में पाए जाने वाले जल हमारे लिए सुखकारी हों। खोद कर पाए जाने वाले जल हमारे लिए सुखकारी हों। पात्र में भर कर रखे गए जल हमारे लिए सुखकारी हों। वर्षा से प्राप्त हुए जल हमारे लिए सुखकारी हों।

२८. मातृ-रूप जल हमें शुद्ध करें। वे धारावाही होते हुए अपनी धारा से हमें पवित्र करें। जल की दिव्य धाराएँ सब मल को बहा ले जाती हैं। अत एव मैं जब जलों में डुबकी लगा कर बाहर निकलता हूँ, तो अपने आपको शुद्ध पवित्र पाता हूँ।

७. आनन्दमय जीवन

२९. निश्चय ही, वसन्त रमणीय हो। निश्चय ही, ग्रीष्म रमणीय हो। निश्चय ही, वर्षाएँ और उनके पीछे, शरद्, हेमन्त और शिशिर रमणीय हों।

३०. हे पृथिवी ! तू सुखदा बनी, कण्टकरहित बनकर, धारण करने वाली हमें प्राप्त हो, तू हमें अपनी सुविस्तृत शरण प्रदान कर।

२६. ऋ. १०, ९,७; २७. अ. १, ६,४; २८. ऋ. १०, ७,१०; २९. सा. ३, ४,२, (=६,४,२); ३०. ऋ. १, २२,१५.

३१. भूमे मातर्निधेहि मा,
भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ।
संविदाना दिवाऽकवे,
श्रियां मा धेहि भूत्याम् ॥

३२. स्वादो पितो मधो पितो, वयं त्वा ववृमहे ।
अस्माकमविता भव ॥

३३. उप नः पितवाचर,
शिवः शिवाभिरूतिभिः ।
मयोभुरद्विषेण्यः,
सखा सुशेवो अद्वयाः ॥७॥

८. क्षेत्र-देवस्य प्रसादनम्

३४. क्षेत्रस्य पतिना वयं,
हितेनेव जयामसि ।
गामश्वं पोषयित्न्वा,
स नो मृळातीदृशे ॥

३१. अ. १२,१,६३; ३२. ऋ. १,१८७,२; ३३. ऋ. १, १८७ ३; ३४. ऋ. ४,५७,१.

३१. हे भूमे! हे मातः! तू मुझे अच्छी प्रकार सुप्रतिष्ठित करती हुई आश्रय दे। हे विशालस्वरूपे! आकाश से मिली हुई तू धन-सम्पत्ति और ऐश्वर्य-वैभव के ऊपर मेरा अधिकार स्थापित कर।

३२. हे स्वादु अन्न! हे मधुर अन्न! हम ने तुम्हारा भोग लगाया है। तुम हमारे रक्षक बनो।

३३. हे अन्न! सुखकारी रक्षाओं को लिए हुए, सुख-प्रद होते हुए, हमारे समीप आ जाओ। ऐसा सखा बनो, जो सदा कल्याण करने वाला, कभी भी हानि न करने वाला, अच्छी प्रकार सेवन करने योग्य और कभी भी प्रतिकूल न होने वाला हो।

८. क्षेत्र-देवता का प्रसादन

३४. खेती का पालक देव! हमारा मित्र है। इसी से हमारी जीत है। वह हमें गौ, अश्व तथा अन्य सब पुष्टिकारक पदार्थ-समूह प्रदान करता रहे, ताकि हम सब प्रकार की समृद्धि से युक्त बनें।

३१. अ. १२, १,६३; ३२. ऋ. १, १८७,२; ३३. ऋ. १, १८७,३; ३४. ऋ. ४, ५७,१.

३५. क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिं,
धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्ष्व ।
मधुश्चुतं घृतमिव सुपूतम्,
ऋतस्य न पतयो मृळयन्तु ॥
३६. मधुमतीरोषधीर्द्याव आपो,
मधुमन्नो भवत्वन्तरिक्षम् ।
क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान् नो अस्तु,
अरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम ॥
३७. अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्य्,
अनमीवस्य शुष्मिणः ।
प्र-प्र दातारं तारिष(:),
ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥८॥

९. अभयस्याऽभिलाषा

३८. नमस्ते अस्तु विद्युते,
नमस्ते स्तनयित्नवे ।
नमस्ते भगवन्नस्तु,
यतः स्वः समीहसे ॥

३५. ऋ. ४,५७,२; ३६. ऋ. ४,५७,३; ३७. य. ११,८३;
३८. य. ३६,२१.

३५. हे खेत-पालक देव ! वैसे ही मधुर रसीले भोजन को हमारे मुँह में डालो, जैसे गौ, मधुर रसीले दूध को बच्चे के मुँह में डालती है । शुभ कर्मों के रखवारे देवता कृपा करें और हमें अत्यन्त शुद्ध किए गए घी के समान पवित्र और मधुर-रस-प्रवाहित भोजन मिलता रहे ।

३६. हमारे लिए सस्यरूप ओषधिआँ मिठास से भरी हों । हमारे लिए दिव्य वृष्टि रूप जल मिठास से भरे हों । अन्तरिक्ष हमारे लिए मिठास-भरा हो । क्षेत्रपति देव हमारे लिए मिठास से भरा हो । हम इसकी भक्ति में लगे रहें, ताकि दुःख से बचे रहें ।

३७. हे अन्न-पालक देव ! हमें ऐसा अन्न देते रहो, जिससे हम बलवान् बनें और हमें कोई रोग न हो । दान-शील व्यक्तिओं को भरपूर बढ़ाओ । हमें धन-धान्य देते रहो, ताकि हम मनुष्यों और पशुओं का पालन करते रहें ।

६. अभय की अभिलाषा

३८. हे (बिजली में) चमकते हुए देव ! तुम्हें नमस्कार हो । हे (बादल में) गरजते हुए देव ! तुम्हें नमस्कार हो । जिधर-जिधर से भी प्रदीपन करते हुए तुम प्रकट होते हो, (उधर-उधर से ही) हे भगवन् ! तुम्हें नमस्कार हो; तुम्हें नमस्कार हो ।

३५. ऋ. ४, ५७,२; ३६. ऋ. ४, ५७,३; ३७. य. ११,८३; ३८. य. ३६, २१.

३९. यतो यतः समीहसे,
ततो नो अभयं कुरु ।
शं नः कुरु प्रजाभ्यो,
ऽभयं नः पशुभ्यः ॥

४०. अभयं नः करत्यन्तरिक्षम्,
अभयं द्यावापृथिवी उभे इमे ।
अभयं पश्चादभयं पुरस्ताद्,
उत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥

४१. अभयं मित्रादभयममित्राद्,
अभयं ज्ञातादभयं पुरो यः ।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः,
सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥

४२. अभयं द्यावापृथिवी इहास्तु नो,
ऽभयं सोमः सविता नः कृणोतु ।
अभय नोऽस्तूर्वन्तरिक्षं,
सप्तऋषीणां च हविषाभयं नो अस्तु ॥

३९. य. ३६,२२; ४०. अ. १९, १५, ५; ४१. अ. १९, १५,६; ४२. अ. ६,४०,१.

३९. हे देवों के देव ! जिधर-जिधर से तुम प्रकट होवो, उधर-उधर से ही हमें भय-रहित बनाओ। हमारा प्रजावर्ग सुखी रहे। हमारे पशु भय-रहित रहें।

४०. मध्यलोक हमें अभय प्रदान करे। ये, दोनों, भूलोक और द्यु-लोक (हमें अभय प्रदान करें) पीछे की ओर हमें अभय हो। आगे की ओर हमें अभय हो। ऊपर की ओर हमें अभय हो। नीचे की ओर हमें अभय हो।

४१. मित्र से हमें अभय हो। अमित्र से हमें अभय हो। सम्बन्धित जन से हमें अभय हो। जो पराया (असम्बन्धित) धन है, उस से हमें अभय हो। रात हो, तो हमें अभय हो। दिन हो, तो, हमें अभय हो। सब दिशाएँ हमारे प्रति मित्र-भाव से भरी हों।

४२. हे आकाश ! और हे भूमे ! हमारे लिए इस जीवन में सदा अभय हो। सोम हमें अभय दे। सविता हमें अभय दे। विशाल अन्तरिक्ष हमारे लिए अभयदायक हो। सप्तऋषि (नक्षत्रों) के प्रति आहुति द्वारा हमें अभय हो।

३९. य. ३६, २२; ४०. अ. १९, १५, ५; ४१. अ. १९, १५,६; ४२. अ. ६, ४०,१.

४३. अस्मै ग्रामाय प्रदिशश्चतस्र(:),
ऊर्जं सुभूतं स्वस्ति सविता नः कृणोतु ।
अशत्र्विन्द्रो अभयं नः कृणोतु,
अन्यत्र राज्ञामभि यातु मन्युः ॥९॥

१०. शत्रु-शमनं शक्तिप्रसादनम्

४४. अनमित्रं नो अधराद्,
अनमित्रं न उत्तरात् ।
इन्द्रानमित्रं नः पश्चाद्-
अनमित्रं पुरस्कृधि ॥

४५. यत इन्द्र भयामहे,
ततो नो अभयं कृधि ।
मघवंछग्धि तव त्वं न ऊतिभिर्,
वि द्विषो वि मृधो जहि ॥

४६. इन्द्रं वयमनूराधं हवामहे,
ऽनुराध्यास्म द्विपदा चतुष्पदा ।
मा नः सेना अररुषीरुपगुर्,
विषूचीरिन्द्र द्रुहो वि नाशय ॥

४३. अ. ६,४०,२; ४४. अ. ६, ४०, ३; ४५. अ. १९, १५,१; ४६. अ. १९,१५,२.

४३. हमारे जन-समूह को चारों दिशाएँ एवं सविता पुष्टि, प्रचुरता तथा सुख प्रदान करें। इन्द्र हमें शत्रु-रहित अभय प्रदान करे। राजाओं का कोप (यदि हो तो हम से दूर) कहीं अन्यत्र पड़े।

१०. शत्रु-शमनकारी शक्ति-प्रसादन

४४. हे इन्द्र ! नीचे से हमें शत्रु-राहित्य प्रदान करो। ऊपर से हमें शत्रु-राहित्य प्रदान करो। पीछे से हमें शत्रु-राहित्य प्रदान करो। आगे से हमें शत्रु-राहित्य प्रदान करो।

४५. हे इन्द्र ! जिधर से हमें भय हो उधर से हमें अभय प्रदान करो। हे भगवन् ! तुम हमें अपने संरक्षणों द्वारा शक्ति-युक्त बनाओ। (हमारी) हानि (और) हिंसा करने वालों को मार हटाओ।

४६. हम अपनी भक्ति द्वारा इन्द्र को पूरी तरह संतुष्ट करते रहें, (और उसके प्रसाद-स्वरूप) हम मनुष्यों तथा पशुओं के द्वारा सुख और संतोष के भागी बने रहें। शत्रुता-भाव से भरा सेनाएँ हमारे निकट न आएँ। हे इन्द्र ! हमारे सभी ओर के शत्रुओं को हमसे अति दूर भगा दो।

४३. अ. ६, ४०, २; ४४. अ. ६, ४०, ३; ४५. अ. १६. १५, १; ४६. अ. १६, १५, २.

४७. इन्द्रस्त्रातोत वृत्रहा,
परस्पानो वरेण्यः ।
स रक्षिता चरमतः स मध्यतः,
स पश्चात् स पुरस्तान्नो अस्तु ॥
४८. उरुं नो लोकमनु नेषि विद्वान्-त्,
स्वर्यज्ज्योतिरभयं स्वस्ति ।
उग्रा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू,
उप क्षयेम शरणा बृहन्ता॥ १०॥

११. ऐश्वर्य-देवस्य प्रातः-प्रसादनम्

४९. प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे,
प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना ।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं,
प्रातः सोममुत रुद्रं हवामहे ॥
५०. प्रातर्जितं भगमुग्रं हवामहे,
वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता ।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्,
राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह ॥

४७. अ. १९,१५, ३; ४८. अ. १९, १५, ४; ४९. अ. ३, १६,१; ५०. अ. ३,१६,२

४७. इन्द्र हमारा रक्षक और हमारे शत्रुओं का नाशक है। वह हमें अपने संरक्षण-द्वारा सुगुप्त रखने वाला है, मानो अपनी रक्षा का कवच धारण कराने वाला है।

४८. हे इन्द्र ! तुम परम विद्वान् हो, तुम ही हमें उस विशाल स्थिति तक ले जाते हो जिसमें प्रचण्ड प्रकाश, अभय और परम सुख निवास करते हैं। तुम महान् हो और तुम्हारी भुजाएँ बलवान्, विशाल और शरणरूप हैं। हम उन्हीं का आश्रय पाते रहें।

११. ऐश्वर्य देवता का प्रातः-प्रसादन

४९. भोर हुए, हम अग्नि को, भोर हुए, हम इन्द्र को, भोर हुए, हम मित्र और वरुण को, भोर हुए, हम अश्वि-युगल को भजते हैं। भोर हुए, हम भग, पूषन् और ब्रह्मणस्पति को, भोर हुए, हम सोम और रुद्र को भजते हैं।

५०. हम उस भग का भजन करते हैं, जो प्रातः ही प्रकाशमान हो जाता है। जो उग्ररूप अदितिका पुत्ररूप और सब का ठीक प्रकार से धारण करने वाला है, जिसमें हर कोई, चाहे वह भिखारी हो, चाहे वह धनवान् हो, और चाहे वह राजा हो, विश्वास रखता है और जिसे वह यह कहता है कि तुम ही (मेरे) दाता हो।

४७. अ. १९, १५,३; ४८. अ. १९, १५,४; ४९. ऋ. ७, ४१,१; ५०. ऋ. ७, ४१,२.

५१. भग प्रणेतर् भग सत्यराधो,
भगेमां धियमुदवा ददन्नः ।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर् ,
भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥

५२. उतेदानीं भगवन्तः स्याम,
उत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम् ।
उतोदितौ मघवन्त्सूर्यस्य,
वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥

५३. भग एव भगवाँ अस्तु देवस् ,
तेना वयं भगवन्तः स्याम ।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीमि,
स नो भग पुरएता भवेह ॥

५४. समध्वरायोषसो नमन्त,
दधिक्रावेव शुचये पदाय ।
अर्वाचीनं वसुविदं भगं मे,
रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु ॥

५१. ऋ ३,१६,३; ५२. ऋ. ३,१६,४; ५३. ऋ. ३,१६,५;
५४. ऋ. ३,१६,६.

५१. हे उत्तम नायक ? हे सच्चे ऐश्वर्य वाले भग ? हमें पुष्टि प्रदान करते हुए, हे भग ! हमारी इस आराधना को सफल कर। हे भग ! हमें गौओं और घोड़ों द्वारा समृद्ध बनाओ। हे भग ! हमें पुष्कल नर-संपत्ति प्रदान करो, ताकि हमारा प्रभाव बढ़े।

५२. हे ऐश्वर्य-शालिन् प्रभो ! हम अब (भोर हुए) भी ऐश्वर्यशाली हों, और दोपहर तथा सांझ समय भी ऐश्वर्यशाली हों। इसी प्रकार जब सूर्य उदय होता है तब (दिन चढ़े) भी हम देवताओं की कृपा के पात्र हों।

५३. ऐश्वर्य-शाली भग ही (हमारा) देवता हो। उस (की कृपा) से हम ऐश्वर्य-शाली बनें। हे भग ! उस तुझको मैं पूरी लगन से आराधता हूँ। हे भग ! तो अब तूही हमारा अग्रणी बन।

५४. हमारे यज्ञरूपी पवित्र पद पर पहुंचने के लिए उषाओं ने सवारी के घोड़ों की भांति अपना मुख इधर को मोड़ लिया है। जैसे बलवान् अश्व रथ को खींच ले जाते हैं (वैसे ही ये उषाएँ रूपी घोड़े) ऐश्वर्यवान् भग को (अपने ऊपर बिठाकर) इधर मेरी ओर (खींच लावें)।

५१. अ. ३, १६,३, (ऋ. ७, ४१,३); ५२. अ. ३, १६,४ (ऋ. ७, ४१, ४,); ५३. अ. ३, १६,५, (ऋ. ७, ४१, ५); ५४. अ. ३, १६,६ (ऋ. ७, ४१,६).

५५. अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो,
वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः ।
घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता,
यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥११॥

१२. उषोदेवतायाः शुभागमनम्

५६. आ याहि वनसा सह ।
गावः सचन्त वर्तनिं यदूधभिः ॥

५७. उषा अप स्वसुस्तमः,
सं वर्तयाति वर्तनिं सुजातता ।
अया वाजं देवहितं सनेम,
मदेम शतहिमाः सुवीराः ॥१२॥

१३. सूर्यदेवस्य शुभोदयः

५८. उद् वयं तमसस्परि,
ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्यम्,
अगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥

५५. अ. ३,१६,७; ५६. ऋ. १०,१७२,१; ५७. अ. १६,
१२,१; ५८. ऋ. १,५०,१०.

५५. हमारे लिए अश्वों से युक्त, गौओं से युक्त और वीरों से युक्त होती हुई, भद्र उषाएँ नित्यप्रति प्रकाशवती हों। हे उषाओ! आओ, सब ओर से प्रपूर्ण होती हुई और घृत-धाराओं को प्रवाहित करती हुई तुम सदा हमें उत्तम सुख-संपत्तियों द्वारा सुपालित करती रहो।

१२. उषा देवता का शुभागमन

५६. (हे उषः) आओ, चाह से भरी हुई आओ। (आओ, समय हो गया) (रिक्त) आपीनों (को दूध से भरपूर करने) के लिए गौएँ (गोचर भूमिके) मार्ग पर निकल पड़ी हैं।

५७. देखो, उषा (अपनी) बहिन (रात्रि) के अन्धेरे को दूर भगा रही है और (प्रत्येक) मार्ग को प्रकाश-युक्त करती हुई अच्छी तरह चालू कर रही है। आओ, हम इसके द्वारा, देवताओं से नियत की हुई (पूरी) आयु पावें और सौ बरस तक उत्तम स्वास्थ्य से युक्त होते हुए आनन्दित रहें।

१३. सूर्य देवता का शुभोदय

५८. हमने (रात्रि के) अन्धकार से युक्त हो रही (पूर्वदिशा) के उपरी भाग में (चमक पड़े) प्रकाश को निहारते हुए (अब धीरे-धीरे) उत्तम ज्योति-स्वरूप सूर्य का साक्षात् दर्शन पाया है। वह (सब) देवों में (श्रेष्ठ) देव है।

५५. ऋ. ७, ४१,७; ५६. ऋ. १०,१७२,१; ५७. अ. १६, १२,१; ५८. ऋ. १, ५०,१०.

५९. उद्यन्नद्य मित्रमह,
आरोहन्नुत्तरां दिवम् ।
हृद्रोगं मम सूर्य,
हरिमाणं च नाशय ॥

६०. उदगाद् अयमादित्यो,
विश्वेन सहसा सह ।
द्विषन्तं मह्यं रन्धयन्,
मो अहं द्विषते रधम् ॥

६१. तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् ।
पश्येम शरदः शतं, जीवेम शरदः शतॅं,
शृणुयाम शरदः शतं, प्र ब्रवाम शरदः शतम्,
अदीनाः स्याम शरदः शतं, भूयश्च शरदः
शतात् ॥ १३ ॥

१४. सवितृ-देवस्य प्रसादनम्

६२. तत्सवितुर्वरेण्यं, भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

६३. देवस्य सवितुर्वयं, वाजयन्तः पुरन्ध्या ।
भगस्य रातिमीमहे ॥

५९. ऋ. १,५०,११; ६०. ऋ १,५०,१३; ६१. य. ३६ २४;
६२. ऋ ३,६२,१०; ६३. ऋ. ३,६२,११.

५६. हे प्रचण्ड प्रताप के स्वामिन् ! (भगवन्) सूर्य ! आज उदय होते हुए और ऊँचे आकाश में चढ़ते हुए, मेरे हृदय रोग तथा पाण्डुरोग का नाश करो।

६०. लो, अब आदित्य का उदय हो गया। इसकी समूची प्रचण्डता इसके साथ है। (उसी प्रचण्डता से मैं भी युक्त होऊँ, जिससे) मेरे शत्रु मुझ से दबें, पर मैं उनसे न दबाया जा सकूँ।

६१. वह (देखो) देवताओं द्वारा स्थापित सूर्यरूपी चमकती आँख सामने (क्षितिज से) ऊपर चढ़ आई है। हम सौ वर्ष तक देखने की शक्ति से युक्त रहें। हम सौ वर्ष तक जीते रहें। हम सौ वर्ष तक सुनने की शक्ति से युक्त रहें। हम सौ वर्ष तक बोलने की शक्ति से युक्त रहें। हम सौ वर्ष तक अदीन हो कर रहें। हम सौ वर्ष से ऊपर भी (इसी प्रकार बने रहें)।

१४. सविता देव का प्रसादन।

६२. (वह सामने) सविता देव का तेज देदीप्यमान (हो रहा है) (यही वह तेज है) जो हमारी मतिओं को (आगे आगे) प्रेरित कर सकता है, (अतः नित्य प्रति) हम उसके भजन में लगे रहें।

६३. हम सविता देव को पूर्णतया आराधते हुए (उससे) ऐश्वर्य का वरदान पाते हैं।

५६. ऋ. १,५०,११; ६०. ऋ. १,५०,१३; ६१. य. ३६,२४; ६२. ऋ. ३,६२,१०; ६३. ऋ. ३,६२,११.

६४. तत् सवितुर्वृणीमहे, वयं देवस्य भोजनम् ।
श्रेष्ठं सर्वधातमं, तुरं भगस्य धीमहि ॥

६५. अद्या नो देव सवितः, प्रजावत् सावीः सौभगम् ।
परा दुःष्वप्न्यं सुव ॥

६६. विश्वानि देव सवितर्, दुरितानि परासुव ।
यद् भद्रं तन्न आसुव ॥१४॥

१५. अग्नि-देवस्य प्रसादनम्

६७. रात्रिं रात्रिमप्रयातं भरन्तो,
ऽश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै ।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो,
मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥

६८. या ते वसोर्वात इषुः,
सा त एषा तया नो मृड ।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो,
मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥

६४. ऋ. ५,८२,१; ६५. ऋ. ५,८२,४; ६६. ५,८२,५;
६७. अ. १६,५५,१; ६८. अ. १६,५५,२.

६४. हम सविता देव के उस (प्रसिद्ध) परिपालन का वर्णन, (उसीका) आराधन करते हैं। (वह परिपालन ही) सर्वोत्तम, सब से बढ़ कर धारण करने वाला और ऐश्वर्य-संपत्ति का बढ़ाने वाला है।

६५. हे सवितः देव ! हमें प्रजा दे (और साथ में) ऐश्वर्य भी दे। बुरे स्वप्नों को (हम से) दूर भगा दो (ताकि हम निर्भय हो कर आराम कर सकें)।

६६. हे सवितः देव ! सब दुःखों को (हम से) दूर भगा दो। जो भी कुछ सुखकारक हो उसे (हमारी ओर) ले आओ।

१५. अग्निदेवता का प्रसादन

६७. जैसे (खूंटे पर) खड़े घोड़े को (उसका) भोजन अविछिन्न रूप से (निरन्तर) देते हैं, वैसे ही हम प्रति (दिन और) रात (जब भी अग्नि को प्रचण्ड करते हैं, तो) इसके प्रति (इसका) भोजन बराबर अर्पण करते रहते हैं। हे अग्ने ! हम तुम्हारे समीपवर्ती रहते हुए ऐश्वर्य-वृद्धि तथा धन-धान्य से युक्त होते हुए अच्छी तरह से आनन्दित रहें। (और हम किसी तरह से भी दुःखित न हों।)

६८. हे अग्ने ! तुम देदीप्यमान हो रहे हो, जो तुम्हारी (तीक्ष्ण) ज्वाला तुम्हारे शस्त्र (के रूप में कही जाती) है। यह (साक्षात् दीख पड़ रही) तेरी (ज्वाला) वही तो है, उस प्रकार की अपनी इस (ज्वाला) के द्वारा हमारा कल्याण करो।

६४. ऋ. ५,८२,१; ६५. ऋ. ५, ८२,४; ६६. ऋ. ५,८२,५; ६७. अ. १९,५५,१; ६८. अ. १९,५५,२.

६९. सा॒यंसा॑यं गृ॒हप॑तिर्नो अ॒ग्निः,
प्रा॒तः प्रा॑तः सौमन॒सस्य॑ दा॒ता ।
व॒सोर्व॑सोर्वसु॒दा न॑ एधि,
व॒यं त्वे॒न्धाना॑स्त॒न्वं᳡ पुषेम ॥

७०. प्रा॒तः प्रा॑तर्गृ॒हप॑तिर्नो अ॒ग्निः,
सा॒यं सा॑यं सौमन॒सस्य॑ दा॒ता ।
व॒सोर्व॑सोर्वसु॒दा न॑ एधि,
इ॒न्धाना॑स्त्वा श॒तहि॑मा ऋधेम ॥

७१. अ॒प॒श्चाद॑ग्ध॒ान्नस्य भूयासम् । अन्ना॒दा॒या॒न्नप॑तये,
रु॒द्राय॒ न॒मो अ॒ग्न॒ये ॥

७२. स॒भ्यः स॒भां मे॑ पाहि, ये॒ च॒ सभ्या॑ः सभा॒सदः ।
त्व॒मिन्द्राः पुरुहूत॒ वि॒श्वमा॒युर्व्य॑श्नवत ॥

७३. अ॒हर॑हर्ब॒लि॒मि॒त्ते ह॒रन्तो॑,
ऽश्वा॑येव ति॒ष्ठते॑ घा॒सम॑ग्ने ।
रा॒यस्पोषे॑ण स॒मिषा॒ म॒दन्तो॑,
मा॒ ते अग्ने प्र॒तिवे॑शा रिषाम ॥१५॥

६९. अ.१९,५५,३; ७०. अ. १९,५५,४; ७१. अ. १९,५५,५; ७२. अ. १९,५५,६; ७३. अ. १९,५५,७ (शोधित).

६९. हर सायं और हर प्रातः (चमकता हुआ) अग्नि हमारे घरों की रक्षा करता है, और हमें हार्दिक प्रसन्नता प्रदान करता है। (हे अग्ने) तुम हमारे लिए सभी धनों के प्रदाता बनो। और (हे अग्ने) हम तुम्हें प्रदीप्त करते हुए (तुम्हारी कृपा से) अपने आपको पुष्ट करते रहें।

७०. हर प्रातः और हर सायं (चमकता हुआ) अग्नि हमारे घरों की रक्षा करता है और हमें हार्दिक प्रसन्नता प्रदान करता है। (हे अग्ने!) तुम हमारे लिए सभी धनों के प्रदाता बनो। (हे अग्ने) और हम तुम्हें प्रदीप्त करते हुए (तुम्हारी कृपा से) सौ वर्ष तक (आयु भर) समृद्ध बने रहें।

७१. मैं अन्नपाने में पीछे पहुंचनेवाला न होऊं। हे अन्न को पचाने वाले, अन्न के मालिक, लाल लाटोंवाले, अग्ने! (यह) अन्न तुम्हारे अर्पण है।

७२. (हे अग्ने! हमारी) सभा के (तुम) हितकारी (हो)। हमारी सभा का पालन करो। जो सभा के हितकारी (हमारे) सभासद् हैं, उनका पालन करो। हे बहु-निमन्त्रित! जो तुम्हें अपना मालिक बनावें, वे पूर्ण आयु पावें।।

७३. हे अग्ने! जैसे (खूंटे पर) खड़े घोड़े को घास देते हैं, वैसे ही, हम प्रतिदिन (जब तुम्हें प्रचण्ड करते हैं, तो) तुम्हारे लिए अवश्य बलि अर्पण करते हैं। तुम्हारी समीपता हमारा धन-धान्य बढ़ाए और हम आनन्द पावें। हमें कभी कोई कष्ट न हो।।१५।।

६९. अ. १९, ५५, ३; ७०. अ. १९, ५५, ४; ७१. अ. १९, ५५, ५; ७२. अ. १९, ५५, ६; ७३. अ. १९, ५५, ७.

१६. मृत्युञ्जयो मन्त्रः

७४. त्र्यम्बकं यजामहे ,
सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनाद् ,
मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात् ॥१६॥

१७. सरस्वती-देव्याः प्रसादनम्

७५. पावका नः सरस्वती, वाजेभिर्वाजिनीवती ।
यज्ञं वष्टु धियावसुः ॥

७६. चोदयित्री सूनृतानां, चेतन्ती सुमतीनाम् ।
यज्ञं दधे सरस्वती ॥

७७. महो अर्णः सरस्वती, प्रचेतयति केतुना ।
धियो विश्वा विराजति ॥

७८. शिवा नः शंतमा भव, सुमृडीका सरस्वति ।
मा ते युयोम संदृशः ॥

७४. ऋ. ७,५९,१२; ७५. ऋ. १,३,१०; ७६. ऋ. १, ३,११; ७७. ऋ. १,३,१२; ७८. अ. ७,६८,३.

१६. मृत्युञ्जय मन्त्र

७४. हम त्र्यम्बक (रुद्रदेव) की पूजा करते हैं। वह सुखदेनेवाला (और) पुष्टि करने वाला है। जैसे तरबूज (पक कर अपने आप) बेल से छूट जाता है, वैसे ही मैं मृत्यु से छूट जाऊँ, परन्तु अमृत से नहीं।

१७. सरस्वती देवी का प्रसादन

७५. सरस्वती वाणी के भण्डार की स्वामिनी है। वह हमें शब्द राशि (प्रदान करती हुई) वाग्व्यवहार कराने वाली है। (इसके) चिन्तन से (यह) शब्दों की झड़ी लगादेने वाली है। यह (हमारे) यज्ञ (आराधना) को स्वीकार करे।

७६. सरस्वती देवी सच्ची वाणियों की प्रेरणा करने वाली है, और सुमतिओं की सुझाने वाली है, सरस्वती ने (सब) यज्ञों को धारण किया है।

७७. सरस्वती अपने संकेत द्वारा महान् शब्दराशि को प्रजागृत करती है। वह सब स्तोत्रों (के आत्मा के रूप) में प्रकट होती है।

७८. हे करुणामयी सरस्वती भगवती! तुम हमारे लिए सुख और कल्याण करनेवाली बनो। हम तेरे साक्षात् दर्शन से (कभी) वंचित न रहें।

७४. ऋ. ७,५९,१२; ७५. ऋ. १,३, १०; ७६. ऋ. १,३,११. ७७. ऋ. १,३,१२; ७८. अ. ७,६८,३.

७९. यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्,
यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः ।
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि,
सरस्वति तमिह धातवे कः ॥

८०. सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते,
सरस्वतीमध्वरे तायमाने ।
सरस्वतीं सुकृतो अह्वयन्त,
सरस्वती दाशुषे वार्यं दात् ॥

८१. यदाशसा वदतो मे विचुक्षुभे,
यद्याचमानस्य चरतो जनाँ अनु ।
यदात्मनि तन्वो मे विरिष्टं,
सरस्वती तदा पृणद् घृतेन ॥१७॥

१८. वाचस्पति-देवस्य प्रसादनम्

८२. ये त्रिषप्ताः परियन्ति,
विश्वा रूपाणि बिभ्रतः ।
वाचस्पतिर्बला तेषां,
तन्वो अद्य दधातु मे ॥

७९. ऋ. १,१६४,४९; ८०. ऋ. १०,१७,७; ८१. अ. ७,
५७,१; ८२. अ. १,१,१.

७९. हे सरस्वती मातः ! हमारे मुंह में अपना पुष्टिभरा, सुख-कारी, धन संपत्ति को खूब बढ़ाने वाला स्तन डाल दे। इसका मीठा दूध सब कामनाओं को पूरा कर देता है ।।

८०. (अन्य सब) देवताओं (के भी प्रसाद) की कामना करते हुए (भक्तजन तदर्थ स्तोत्र-शक्ति पाने के लिए) सरस्वती को (ही सर्व प्रथम) आराधते हैं। (जब भी) यज्ञ आरम्भ किया जा रहा होता है (तब सर्वदा भक्तजन) सरस्वती को (आराधते हैं), (सभी) सत्कर्मी सज्जन (सद्भावों के प्रेरक के रूप में) सरस्वती (को ही) आराधते चले आए हैं। जो (सरस्वती को अपना भक्तिभरा हृदय) प्रदान करता है, सरस्वती उसे मनो-वाञ्छित वर प्रदान करती है।

८१. (अब) जब कि (मैं अपनी) आशा (की पूर्ति) के लिए इधर-उधर लोगों में (अपनी आवश्यकताएँ) बताता रहा हूं और उनसे मांगता फिरा हूँ (उसके कारण) जो मुझे घबराते और 'कुढ़ते' रहना पड़ा है (और इस प्रकार) जो मेरे अपने अन्तर आत्मा में घाव हो गया है, सरस्वती (माता से मैं यही वरदान चाहता हूँ कि वह) उसे (अपने) स्नेह से भर दे।

१८. वाचस्पति देव का प्रसादन

८२. जो तीन गुणा सात (नामिक वचन) सब रूपों के वाचक बनते हुए सर्वत्र व्याप्त हो रहे हैं, वाक् का रक्षक (देव) आज उन वचनों के बल को मेरे अन्दर प्रतिष्ठित करे।

७९. ऋ. १,१६४, ४९; ८०. ऋ. १०,१७,७; ८१. अ ७,५७,१; ८२, अ. १,१,१.

८३. पुनरेहि वाचस्पते, देवेन मनसा सह ।
वसोष्पते नि रमय, मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥

८४. इहैवाभि वितनू(नु-,
-उ)भे आर्त्नी इव ज्यया ।
वाचस्पतिर्नि यच्छतु,
मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥

८५. उपहूतो वाचस्पतिर्,
उपास्मान् वाचस्पतिर्ह्वयताम् ।
सं श्रुतेन गमेमहि,
मा श्रुतेन वि राधिषि ॥

८६. वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये,
मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम ।
स नो विश्वानि हवनानि जोषद्,
विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा ॥१८॥

८३. अ. १,१,२; ८४. अ. १,१,३; ८५. अ. १,१,४;
८६. ऋ. १०,८१,७.

८३. हे वाक् के रक्षक, देव ! आओ, देवात्मक मन के साथ फिर आओ। हे वाणी के रक्षक, देव ! मेरा विद्याभ्यास स्थिरता-पूर्वक बना रहे। इसे मेरे अन्दर खूब प्रतिष्ठा प्राप्त होती रहे।

८४. (हे वाक् के रक्षक, देव !) यहीं (मेरे अन्दर मेरे विद्याभ्यास को) दोनों ओर से पक्का बांध दो, जैसे (धनुष के) दोनों सिरों को डोरी से (पक्का बांधते हैं)। वाक् का रक्षक, देव ! (मेरे विद्याभ्यास को) मेरे अन्दर सुस्थिर करे। (मेरा) विद्याभ्यास मेरे अन्दर बराबर बना रहे।

८५. वाक् का-रक्षक, देव ! (हमारे द्वारा घनिष्ठता-पूर्वक) संबोधित किया गया है। वाक्-का-रक्षक, देव ! हमें (भी घनिष्ठतापूर्वक) संबोधित करे। हम विद्याभ्यास से जुड़े रहें। हम विद्याभ्यास से बिछुड़ें नहीं।

८६. विश्वविधायक देव (ही) वाणी का भी संरक्षक है, (वही सब के) मनों को (भी) प्रेरित करता है। हम उसका आज आराधन करते हैं, ताकि हम सुरक्षित रहें और हमारी वाक् शक्ति बढ़े। (हम अपनी) रक्षार्थ (सदा उसी को पुकारें) और वह हमारी (इन) सब पुकारों को (सुने और) स्वीकार करे। वही सबका भला करने वाला और भले कार्यों का सहारा है।

८३. अ० १, १,२; ८४. अ १,१,३; ८५. अ० १, १,४; ८६. अ० १०, ८१,७.

१६. विद्यायां प्रीति-प्रकर्षः

८७. यदग्ने तपसा तप,
उपतप्यामहे तपः ।
प्रियाः श्रुतस्य भूयास्मा,
ऽऽयुष्मन्तः सुमेधसः ॥

८८. अग्ने तपस्तप्यामह,
उपतप्यामहे तपः ।
श्रुतानि शृण्वन्तो वयम्,
आयुष्मन्तः सुमेधसः ॥

८९. ऋचं वाचं प्र पद्ये मनो यजुः प्र पद्ये,
साम प्राणं प्र पद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्र पद्ये ।
वागोजः सहौजो मयि प्राणापानौ ॥

९०. यद्यन्तरिक्षे यदि वात आस,
यदि वृक्षेषु यदि वोलपेषु ।
यदश्रवन् पशव उद्यमानं,
तद् ब्राह्मणं पुनरस्मानुपैतु ॥

८७. अ. ७,६१,१; ८८. अ. ७,६१,२; ८९. य. ३६,१;
९०. अ. ७,६६,१.

१९. विद्या में प्रीति-प्रकर्ष

८७. हे अग्निदेव ! (अब) जब (कि) हम विधिपूर्वक तप तपने में निरन्तर लग रहे हैं, तो अब हम पर आपकी कृपा होनी चाहिए (ताकि) हम विद्या के प्यारे बन सकें। (तथा) दीर्घ आयु वाले और उत्तम बुद्धिवाले हो सकें।

८८. हे अग्निदेव ! हम तप तपते रहें। हे अग्निदेव ! हम खूब तप तपते रहें (ताकि) हम श्रुतियों का पाठ करते हुए दीर्घ आयु वाले और उत्तम बुद्धि वाले हो सकें।

८९. मैं ऋग्वेद का अभ्यास करता हूँ, तो वाणी को सिद्ध करता हूँ। मैं यजुर्वेद का अभ्यास करता हूँ तो मन को सिद्ध करता हूँ। मैं सामवेद का अभ्यास करता हूँ, तो प्राण को सिद्ध करता हूँ। (मैं) चक्षु और श्रोत्र को सिद्ध करता हूँ। मैं वाक् और ओज को धारण करता हूँ और ओजयुक्त होते हुए प्राण तथा अपान को अपने अन्दर भरता हूँ।

९० (जब मेरे द्वारा वेद का) पाठ किया जाता था, तो उस (की गूँज) को प्राणिमात्र सुनते थे। (वह मेरा वेद-पाठ, न जाने अब कहां चला गया है ?) यदि (वह) अन्तरिक्ष में, यदि (वह) वायु में, यदि (वह) वृक्षों में अथवा यदि (वह) घास के तिनकों में (चला गया) है, (तो अब) वही वेद-पाठ पुनः प्राप्त हो।

८७. अ० ७,६१,१; ८८. अ० ७,६१,२; ८९. य० ३६,१; ९०. अ० ७,६६,१.

९१. पुनर् मैत्विन्द्रियं,
पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च ।
पुनरग्नयो धिष्ण्या ,
यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव ॥१९॥

२०. मेधा-देव्याः प्रसादनम्

९२. त्वं नो मेधे प्रथमा,
गोभिरश्वेभिर् आगहि ।
त्वं सूर्यस्य रश्मिभिस्,
त्वं नो असि यज्ञिया ॥

९३. मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं,
ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम् ।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्,
देवानामवसे हुवे ॥

९४. यां मेधामृभवो विदुर्,
यां मेधामसुरा विदुः ।
ऋषयो भद्रां मेधां यां विदुस्,
तां मय्यावेशयामासि ॥

९१. अ. ७, ६७, १; ९२. अ. ६, १०८, १; ९३. अ. ६, १०८, २; ९४. अ. ६, १०८, ३.

९१. (मेरा लुप्तप्राय) बल, जीवनोत्साह, धन तथा वेद-पाठ मुझे पुनः प्राप्त हो । यज्ञ की मेरी अग्निआँ यहीं अपने अपने ठीक-ठिकाने पुनः सुप्रतिष्ठित हों ।

२०. मेधादेवी का प्रसादन

९२. हे (स्तुति वचनों की अधिष्ठात्री) मेधादेवि ! हमारे लिए तुम (ही) श्रेष्ठ हो, तुम (ही) पूज्य हो (प्रातः होते ही जब) गौएं और घोड़े, (अपने अपने शब्द करने लगते हैं, और) सूर्य की रश्मिआँ प्रकट होने लगती हैं, (तो) उन (सब) के साथ तुम (ही) आओ ।

९३. मैं (स्तुति वचनों की अधिष्ठात्री) मेधादेवी का आह्वान करता हूं, ताकि (मेरे द्वारा आराधित होकर) सब देवता मेरी रक्षा करें । (यह मेधा) वेदमंत्रों के रूप में (आविर्भूत होती) है, (यह) वेदमंत्रों द्वारा प्रेरित होती है, ऋषियों द्वारा वह गाई जाती है, (और) ब्रह्मचारियों द्वारा इसका निरन्तर पाठ किया जाता है ।

९४. जिस (कल्याणकारिणी) मेधा का ऋभुगण को मान है, जिस (कल्याणकारिणी) मेधा का देवगण को मान है और जिस मेधा (कल्याणकारिणी) का ऋषिगण को मान है, उसी (कल्याणकारिणी) मेधा को हम अपने अंदर धारण करें ।

९१. ७, ६७, १; ९२. अ ६, १०८, १; ९३. अ ६, १०८, २; ९४. अ६, १०८, ३.

९५. यामृषयो भूतकृतो,
मेधां मेधाविनो विदुः ।
तया मामद्य मेधया,
ऽग्ने मेधाविनं कृणु ॥

९६. मेधां सायं मेधां प्रातर्,
मेधां मध्यन्दिनं परि ।
मेधां सूर्यस्य रश्मिभिर्,
वचसा वेशयामहे ॥

९७. द्यौश्च म इदं पृथिवी चा,
ऽन्तरिक्षं च मे व्यचः ।
अग्निः सूर्य आपो मेधां,
विश्वे देवाश्च संददुः ॥२८॥

२१. आकूति-देव्याः प्रसादनम्

९८. आकूतिं देवीं सुभगां पुरो दधे,
चित्तस्य माता सुहवा नो अस्तु,
यामाशामेमि केवली सा मे अस्तु,
विदेयमेनां मनसि प्रविष्टाम् ॥

९५. अ. ६,१०८,४; ९६. अ. ६,१०८,५; ९७. अ. १२. ,१५३; ९८. अ. १९,४,२.

९५. हे अग्निदेव ! मेधावी ऋषि गण (उत्तम) मेधा को (ही) पाकर (शब्दसार स्वरूप) ऋचाओं का उच्चारण करते हैं। हे अग्निदेव ! उसी मेधा से आज मुझे भी युक्त करके मेधावी बना दो।

९६. हम सायं (समय, पाठद्वारा) मेधा को (अपने अन्दर धारण करते हैं।) हम प्रातः (समय, पाठद्वारा) मेधा को (अपने अन्दर धारण करते हैं।) हम दोपहर में (पाठ द्वारा) मेधा को (अपने अन्दर धारण करते हैं।) हम सूर्य की रश्मियों का (प्रकाश होते ही) पाठ (प्रारम्भ करते हुए) मेधा को अपने अन्दर धारण करते हैं।

९७. (यह देखो,) अब द्युलोक और पृथिवी लोक ने मुझे मेधा प्रदान की है। विस्तृत मध्य लोक ने मुझे मेधा प्रदान की है। अग्नि, सूर्य और जल ने मुझे मेधा प्रदान की है। सब देवताओं ने मुझे मेधा प्रदान की है।

९८. मैं प्रकाशवती सूझ-बूझ की देवी की आराधना करता हूँ। वह चित्त की जननी हमारे लिए सुगमतापूर्वक आराधित की जा सकने वाला हो। (इसका मेरे) मन में प्रवेश (सदा बना रहे)। (ताकि मैं) इसे (वहाँ सदा) पाता रहूँ, (और इसके इशारे पर चलता रहूँ।) जिस भी दिशा में मैं जाऊँ (वहाँ) वह मेरी रक्षा करने वाली हो।

९५. अ. ६,१०८,४; ९६ अ. ६,१०८,५; ९७. अ. १२,१, ५३; ९८. अ. १९,४,२०

९९. आकूत्या नो बृहस्पत,
आकूत्या न उपागहि ।
अथो भगस्य नो धेहि,
अथो नः सुहवो भव ॥

१००. मनसः काममाकूतिं,
वाचः सत्यमशीय ।
पशूनां रूपमन्नस्य रसो यशः,
श्रीः श्रयतां मयि स्वाहा ॥

१०१. मह्यं यजन्तु मम यानि हव्या,
ऽऽकूतिः सत्या मनसो मे अस्तु ।
एनो मा नि गां कतमच्चनाहं,
विश्वे देवासो अधि वोचता नः ॥२१॥

२२. बलस्य कामना

१०२. वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीम्-
अदितिं नाम वचसा करामहे ।
यस्यामिदं विश्वं भुवनमाविवेश,
तस्यां नो देवः सविता धर्म साविषत् ॥

९९. अ. १९,४,२; १००. य. ३९,४; १०१. ऋ. १०, १२८,४. १०२; य. १८,३०.

९९. हे बृहस्पति देव ! हमें सूझ-बूझ (प्रदान करने के लिए) सूझ-बूझ को साथ में (लेते हुए) हमारे यहाँ पधारिए। और (हे बृहस्पति देव !) हमें ऐश्वर्य प्रदान कीजिए, एवं हमारे द्वारा सुगमता से आराधित हो सकने वाले बनिए।

१००. मेरे मन की कामना पूर्ण हो, मेरे मन की कल्पना पूरी हो। मेरी वाणी से जो निकले, वह सत्य हो। मेरे यहाँ दर्शनीय पशु हों। मेरा अन्न रस-भरा हो। मेरे अन्दर यश और श्री का निवास हो।

१०१. मेरी पूजाएँ मेरे लिए लाभदायक हों। मेरे मन की भावना सच्ची (सिद्ध) हो। हे सब देवताओ ! मुझे अपनी शिक्षा-दीक्षा में रखो। ताकि मैं किसी भी संकट में न पड़ जाऊँ।

२२. बल की कामना—

१०२. पृथिवी माता ही अदिति देवी है। उसी (के घेरे) में सारा लोक समाया हुआ है। हम निश्चयपूर्वक स्तोत्रों द्वारा उसकी आराधना करते रहें (ताकि उसकी कृपा से) हमें अन्न प्राप्त होता रहे। उस पर (निवास करते हुए हम कर्मशील बने रहें, और) सविता देव हमारे कर्मों को सफल करे।

९९. अ. १६, ४, ३; १००. य. ३९, ४; १०१. ऋ. १०, १२८, ४; १०२. य. १८, ३०.

१०३. विश्वे अद्य मरुतो विश्वे ऊती,
विश्वे भवन्त्यग्नयः समिद्धाः ।
विश्वे नो देवा अवसाऽऽगमन्तु,
विश्वमस्तु द्रविणं वाजो अस्मे ॥

१०४. वाजो नः सप्त प्रदिशश्,
चतस्रो वा परावतः ।
वाजो नो विश्वैर्देवैर्,
धनसाताविहावतु ॥

१०५. वाजो नो अद्य प्रसुवाति दानं,
वाजो देवाँ ऋतुभिः कल्पयाति ।
वाजो हि मा सर्ववीरं जजान,
विश्वा आशा वाजपतिर्जयेयम् ॥

१०६. वाजः पुरस्तादुत मध्यतो नो,
वाजो देवान् हविषा वर्धयाति ।
वाजो हि मा सर्ववीरं चकार,
सर्वा आशा वाजपतिर्भवेयम् ॥

१०३. ऋ. १०,३५,१३; १०४. य. १८,३२; १०५. य. १८,३३; १०६. य. १८,३४.

१०३. सब ही मारुतदेव हमारी सहायता के लिए आवें। सभी अग्नि देवता हमारे लिए प्रकाशमान होकर आवें। सभी देवगण हमारे लिए परिपालन से युक्त होकर आवें। सब धन और बल हमारे लिए हो।

१०४. यहाँ (अथवा) चारों सुदूर-व्यापक (दिशाओं और) सातों प्रदिशाओं में (जहाँ भी हम) धन-लाभ के निमित्त (वर्तमान हों, वहीं सर्वत्र) सब देवताओं (के बल) से युक्त हमारा बल (ही) हमारी रक्षा करे।

१०५. हमारा बल अब हमारी दानशक्ति को बढ़ाता रहे। हमारा बल (उचित) समयों पर सब देवताओं को (हव्य द्वारा) तृप्त करे। (मेरे) बल ने ही मुझे (अन्य) सब वीरों को अपने वश में करने वाला बनाया है (और) मैं सब दिशाओं में अपनी विजय-पताका फहराता रहूँ।

१०६. हमारा बल हमें आगे-आगे बढ़ाता रहे। हमारा बल बीच में (जहां हम खड़े हों) हमें बढ़ाता रहे। हमारा बल (हमारे द्वारा दी जाने वाली) हवि से देवताओं को बढ़ाता रहे। (मेरे) बल ने ही मुझे (अन्य) सब वीरों को अपने वश में करने वाला बनाया है। (और) मैं सब दिशाओं में बल का स्वामी बना रहूँ।

१०३. ऋ. १०,३५,१३; १०४. य. १८,३२; १०५. य. १८,३३; १०६. य. १८,३४.

१०७. सं मा सृजामि पयसा पृथिव्याः,
सं मा सृजाम्यद्भिरोषधीभिः ।
सोऽहं वाजं सनेयमग्ने ॥

१०८. पयः पृथिव्यां पय ओषधीषु,
पयो दिव्यन्तरिक्षे पयो धाः ।
पयस्वतीः प्रदिशः सन्तु मह्यम् ॥२२॥

२३. आत्मोत्साहनम्

१०९. इदं वर्चो अग्निना दत्तमागन् ,
भर्गो यशः सह ओजो वयो बलम् ।
त्रयस्त्रिंशद्यानि च वीर्याणि,
तान्यग्निः प्र ददातु मे ॥

११०. सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणो,
ऽन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम् ।
अस्तृतो नामाहमयमस्मि ,
स आत्मानं निदधे ,
द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय ॥

१०७. य. १८,३५; १०८. य. १८,३६; १०९. अ. १९, ३७,१; ११०. अ. ५,९,७.

१०७. मैं अपने आपको पृथिवी के पुष्टिकारक रस से युक्त करता हूँ। मैं अपने आप को जलों और ओषधियों से युक्त करता हूँ। हे अग्निदेव! इस प्रकार मैं (तेरी कृपा से इनके भीतर से अपने लिए) बल प्राप्त करता हूँ।

१०८. (हे अग्निदेव!) मेरे लिए पृथिवी में पुष्टिकारक रस भर दे। मेरे लिए ओषधियों में पुष्टि-कारक रस भर दे। मेरे लिए द्युलोक में पुष्टिकारक रस भर दे। मेरे लिए बीच के लोक में पुष्टिकारक रस भर दे। मेरे लिए सब दिशाएँ पुष्टिकारक रस से भरपूर हों।

२३. आत्मा का उत्साहन—

१०९. मुझे अग्निद्वारा क्या कुछ नहीं मिल रहा? प्रकाश, तेज, यश, प्रभाव, पराक्रम और बल अग्नि द्वारा दिया गया यह (सब कुछ मेरे अन्दर) आया है। जो तैंतीस प्रकार के वीर्य हैं उन (सब) को अग्नि देव मुझे प्रदान करता रहे।

११०. सूर्य मेरी आंख है। वायु मेरा प्राण है। अन्तरिक्ष मेरा आत्मा और पृथिवी मेरा शरीर है। (इस कारण) अभी तक मेरा (कुछ भी) बिगड़ा हुआ नहीं है। (आगे भी न बिगड़े और मेरा सदा) संरक्षण होता रहे। (इसके लिए) मैं अपने आपको भूमि और आकाश की सेवा में प्रस्तुत किए हुए हूँ।

१०७. य. १८, ३५; १०८. य. १८, ३६; १०९. अ. १९, ३७, १; ११०. अ ५, ९, ७

१११. एधोऽस्येधिषीमहि, समिदसि तेजोऽसि ।
तेजो मयि धेहि ॥

११२. यावती द्यावापृथिवी,
यावच्च सप्त सिन्धवो वितस्थिरे ।
तावन्तमिन्द्र ते ग्रहम्,
ऊर्जा गृह्णाम्यक्षितम्,
मयि गृह्णाम्यक्षितम् ॥

११३. मयि त्यदिन्द्रियं बृहन्,
मयि दक्षो मयि क्रतुः ।
घर्मस्त्रिशुग्विराजति,
विराजा ज्योतिषा सह,
ब्रह्मणा तेजसा सह ॥२३॥

२४. स्वास्थ्य-समुद्भावनम्

११४. अयुतोऽहमयुतो म आत्मा,
ऽयुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रम्,
अयुतो मे प्राणोऽयुतो मेऽपानो,
ऽयुतो मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः ॥

१११. य. ३८,२५; ११२. य. ३८,२६; ११३. य. ३८,२७;
११४. अ. १९,५१,१.

१११. (हे अग्ने) तुम दीप्ति रूप हो। हम भी दीप्ति से युक्त हों। तुम सर्वतः प्रकाशवान् हो, तेज हो। मुझ में तेज धारण करो।

११२. जितना भूमि और आकाश का (फैलाव) है और जितना सात नदियों का विस्तार है, (सोमाहुति डालने के इस) पात्र का उतना ही विस्तार है। हे इन्द्र! (मैं इसे) तेरे लिए उठाता हूँ (आहुति के रूप में तुझे भेंट करता हूं), (यह तेरे सोम-रूपी) भोजन से भरपूर भरा हुआ है। (तेरी कृपा से मैं भी) अपने अन्दर (उसी प्रकार) अक्षीणभाव को ग्रहण करता हूँ।

११३. (नैवेद्य रूप दूध और घृत से भरी) कढ़ाई विराट् ज्योति के साथ, बृहत् तेज के साथ खूब लस-लस करती हुई चमक रही है। मेरे अन्दर भी जीवन की गरमी का ऐसे ही विस्तार और प्रकाश हो, जिस से मेरी शक्ति बढ़े, क्षमता बढ़े और उत्साह बढ़े।

२४. स्वास्थ्य-समुद्भावन—

११४. मैं अहीन हूं। मेरा शरीर अहीन है। मेरी आँखें और मेरे कान अहीन हैं। मेरे प्राण, अपान और व्यान अहीन हैं। मैं सारे का सारा अहीन हूँ।

१११. य. ३८,२५; ११२. य. ३८.२६; ११३. य. ३८,२७; ११४. अ. १६,५१,१.

११५. वाङ् म आसन्नसोः प्राणश्,
चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः ।
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता,
बहु बाह्वोर्बलम् ॥

११६. उर्वोरोजो जङ्घयोर्,
जवः पादयोः प्रतिष्ठा ।
अरिष्टानि (मेऽङ्गानि),
सर्वाऽऽत्मा (ऽतिपुष्टः) ॥

११७. यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य,
मनसो वाऽतितृण्णम् ।
बृहस्पतिर्मे तद्दधातु,
शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥

११८. वर्म मे द्यावापृथिवी,
वर्माहर्वर्म सूर्यः ।
वर्म म इन्द्रश्चाग्निश्च,
वर्म धाता दधातु मे ॥

११५. अ. १६,६०,१; ११६. अ. १६,६०,२ (शोधित);
११७. य. ३६,२; ११८. अ. ८,५,१८.

११५. मेरे मुख में वाणी ठीक हो। मेरी नासों में प्राण ठीक हो। मेरी आंखों में दृष्टि ठीक हो। मेरे कानों में श्रुति ठीक हो। मेरे बाल श्वेत न हों। मेरे दांतों में से खून न निकले। मेरी भुजाओं में बहुत बल हो।

११६. मेरे रानों में बल हो। मेरी जंघाओं में वेग हो। मेरे पांओं में दृढ़ता हो। मेरे सब अंग ठीक हों। मेरा शरीर अति पुष्ट हो।

११७. मेरी आंख का, मेरे हृदय का और मेरे मन का जो अतिछिद्रन हुआ हो, बृहस्पति देव, उसे भर दे। (बृहस्पति देव) जो (सब) संसार का मालिक और पालक है (वही) हमारे लिए (भी) कल्याणकारी हो।

११८. द्यौ-लोक मेरी रक्षा करे। पृथिवी-लोक मेरी रक्षा करे। दिन मेरी रक्षा करे। सूर्य मेरी रक्षा करे। इन्द्र मेरी रक्षा करे। अग्नि मेरी रक्षा करे। धाता मेरी रक्षा करे।

११५. अ. १९, ६०,१; ११६, अ. १९, ६०,२; ११७. य. ३६,२; ११८. अ. ८,५,१८.

११९. असपत्नं नो अधराद्,
असपत्नं न उत्तरात् ।
इन्द्रासपत्नं नः पश्चाज्,
ज्योतिः शूर पुरस्कृधि ॥

१२०. बृहस्पतिर्नः परिपातु पश्चाद्,
उतोत्तरस्मादधरादघायोः ।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः,
सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु ॥२४॥

२५. उत्साह-प्रवाहः

१२१. ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु,
वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रस्,
त्वयाऽध्यक्षेण पृतना जयेम ॥

१२२. मम देवा विहवे सन्तु सर्व,
इन्द्रवन्तो मरुतो विष्णुरग्निः ।
ममान्तरिक्षमुरुलोकमस्तु,
मह्यं वातः पवतां कामे अस्मिन् ॥

११९. अ. ८,५,१७; १२०. ऋ. १०,४२,११; १२१. ऋ. १०,१२८,१; १२२. ऋ. १०,१२८,२.

११६. हे इन्द्र ! दक्षिण में (कोई) शत्रु हमारे सामने न (आ सके), उत्तर में (कोई) शत्रु हमारे सामने न (आ सके), पश्चिम में (कोई) शत्रु हमारे सामने न (आ सके)। हे शूर ! पूर्व में (भी) इसी प्रकार (हमारे लिए विजय का) प्रकाश करो।

१२०. बृहस्पति (बल का स्वामी इन्द्र) पश्चिम, उत्तर और दक्षिण में शत्रु से हमारी सर्वतः रक्षा करे। हम इन्द्र के मित्र हैं और इन्द्र हमारा मित्र है (वही) पूर्व में और (सब दिशाओं के) मध्यवर्ती (क्षेत्र) में हमारी रक्षा करे।

२५. उत्साह-प्रवाह—

१२१, हे अग्नि देव ! युद्ध की ललकारों में मेरे अन्दर चमक पैदा हो। तुम को प्रदीप्त करते हुए हम (अपने) आप को भी प्रदीप्त करें। चारों दिशाएँ हमारे आगे नतमस्तक हों। तुम्हारी देख-रेख में हम शत्रु-दल का दलन करें।

१२२. ललकार पड़ने पर इन्द्रसहित मरुत्-गण, विष्णु और अग्नि—सब देवता मेरी (पीठ ठोंकने वाले) हों, विशाल क्षेत्र वाला मध्य लोक मेरे (अनुकूल) हो, (और) वायु मेरे प्रति (अनुकल हो कर) चले, (ताकि) मेरी (प्रचिन्तित) कामना (पूरी हो)।

११६. अ. ८,५,१७; १२०. ऋ १०, ४२, ११; १२१. ऋ. १०,१२८,१; १२२. ऋ. १०.१२८.२.

१२३. अग्ने मन्युं प्रतिनुदन्परेषां,
त्वं नो गोपाः परिपाहि विश्वतः।
अपाञ्चो यन्तु निवता दुरस्यवो,
ऽमैषां चित्तं प्रबुधां वि नेशत् ॥

१२४. दैवीः षडुर्वीरुरु नः कृणोत,
विश्वे देवास इह मादयध्वम् ।
मा नो विददभिभा मो अशस्तिर्,
मा नो विदद्वृजिना द्वेष्या या ॥२५॥

२६. तेजसः कामना

१२५. सिंहे व्याघ्र उत या पृदाकौ,
त्विषिरग्नौ ब्राह्मणे सूर्ये या ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान,
सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥

१२६. या हस्तिनि द्वीपिनि या हिरण्ये,
त्विषिरप्सु गोषु या पुरुषेषु ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान,
सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥

१२३. अ. ५,३,२; १२४. अ. ५, ३, ६; १२५. अ. ६, ३८,१. १२६; शौ. ६,३८,२.

१२३. हे अग्नि देव ! शत्रुओं के कोप (से भरे आक्रमण) को पीछे धकेलते हुए तुम हमारे रखवारे बन कर सब ओर से हमारी रक्षा करो । हमारी हानि चाहने वाले नीचे धकेले जा कर दूर भागें । (जब वे अपने) घर पर (भी अनिष्ट-चिन्तन करते हुए) जागें, तो उन की चिन्तन-शक्ति विनष्ट हो जाए ।

१२४. हे छः विस्तार-मयी दिव्य दिशाओ ! हमारा भी विस्तार करो । हे सब देवताओ ! यहां (हमारे मध्य में) आनन्द का विस्तार करो । (किसी की भी) शत्रुता और बुरी उक्ति हमारा कुछ न बिगाड़ सके । (किसी के भी द्वारा किए गए) द्वेष-मूलक दुष्कर्म हमारा कुछ न बिगाड़ सकें ॥२५॥

२६. तेज की कामना—

१२५. सिंह में, व्याघ्र में, सांप में, अग्नि में, ब्राह्मण में, सूर्य में जिस (स्वाभाविक शक्ति का) प्रकाश हो रहा है, (वही मेरे अन्दर भी हो ।) जिस (स्वाभाविक शक्तिरूपिणी) देवी भगवती ने इन्द्र (तक) को प्रकट कर रखा है, वह तेज-पुंज को साथ लिए हमें भी आ कर कृतार्थ करें ।

१२६. हाथी में, सिंह में, सुवर्ण में, जलों में, गौओं में, पुरुषों में, जिस (स्वाभाविक शक्ति का) प्रकाश हो रहा है, (वही मेरे अन्दर भी हो) जिस (स्वाभाविक शक्तिरूपिणी) देवी भगवती ने इन्द्र (तक) को प्रकट कर रखा है, वह तेज-पुंज को साथ लिए हुए हमें भी आ कर कृतार्थ करें ।

१२३. अ. ५,३,२; १२४. अ ५,३,६; १२५. अ. ६,३८,१; १२६ अ. ६,३८,२.

१२७. रथे अक्षेष्वृषभस्य वाजे,
वाते पर्जन्ये वरुणस्य शुष्मे ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान,
सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥
१२८. राजन्यै दुन्दुभावायतायाम्,
अश्वस्य वाजे पुरुषस्य मायौ ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान,
सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥२६॥

२७. हस्ति-वर्चसः कामना

१२९. हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद्यशो,
अदित्या यत्तन्वः संबभूव ।
तत्सर्वे समदुर्मह्यमेतद्,
विश्वे देवा अदितिः सजोषाः ॥
१३०. मित्रश्च वरुणश्च,
इन्द्रो रुद्रश्च चेततु ।
देवासो विश्वधायसस्,
ते माञ्जन्तु वर्चसा ॥

१२७. शौ. ६,३८,३; १२८. शौ. ६,३८,४; १२९. शौ. ३,
२२,१; १३०. शौ. ३,२२,२.

१२७. रथ में, पासों में, बैल के बल में, वायु में, मेघ में, वरुण के गम्भीरनाद में जिस (स्वाभाविक शक्ति का) प्रकाश हो रहा है, (वही मेरे अन्दर भी हो)। जिस (स्वाभाविक शक्तिरूपिणी) भगवती ने इन्द्र (तक) को प्रकट कर रखा है, वह तेज-पुंज को साथ लिए हुए हमें भी आकर कृतार्थ करे।

१२८. शासक गण में, अच्छी कसी हुई दुन्दुभि में, घोड़े की हिनहिनाहट में, पुरुष की ललकार में जिस (स्वाभाविक शक्ति) का प्रकाश हो रहा है, (वही मेरे अन्दर भी हो)। जिस (स्वाभाविक शक्तिरूपिणी) देवी भगवती ने इन्द्र (तक) को प्रकट कर रखा है, वह तेज-पुंज को साथ लिए हुए हमें भी आकर कृतार्थ करे ॥२६॥

२७. महाबल की कामना—

१२९. हस्ति-तेज (की) महा-कीर्ति (सर्वत्र) फैल रही है। यह साक्षात् अदिति देवी की उपज है। सब देवता और अदिति देवी परस्पर मिले हुए मुझे यह महाबल प्रदान करें।

१३०. मित्र देवता, वरुण देवता, इन्द्र देवता और रुद्र देवता (मेरा) ध्यान रखें। (वे) देवता (ही) सब के आधार हैं। वे (ही) मुझे तेज से युक्त करें।

१२७. अ. ६, ३८, ३; १२८. अ. ६, ३८, ४; १२९. अ. ३, २२, १; १३०. अ. ३, २२, २.

१३१. येन हस्ती वर्चसा संबभूव ,
येन राजा मनुष्येष्वप्स्वन्तः ।
येन देवा देवतामग्र आयन् ,
तेन मामद्य वर्चसा ,
ऽग्ने वर्चस्विनं कुरु ॥

१३२. यत्ते वर्चो जातवेदो , बृहद्भवत्याहुतेः ।
यावत्सूर्यस्य वर्च, आसुरस्य च हस्तिनः ।
तावन्मे अश्विना वर्च आ धत्तां पुष्करस्रजा ॥

१३३. यावच्चतस्रः प्रदिशश् ,
चक्षुर्यावत्समश्नुते ।
तावत्समैत्विन्द्रियं ,
मयि तद्धस्तिवर्चसम् ॥

१३४. हस्ती मृगाणां सुषदाम् ,
अतिष्ठावान्बभूव हि ।
तस्य भगेन वर्चसा,
ऽभिषिञ्चामि मामहम् ॥२७॥

१३१. अ. ३,२२,३; १३२. अ. ३,२२,४; १३३. अ. ३, २२,५; १३४. अ. ३,२२,६.

१३१. जिस तेज से हाथी (स्वभावतः) युक्त होता है। जिस (तेज) से मनुष्यों में राजा (स्वभावतः युक्त होता है।) (और) जलों में राजा वरुण (स्वभावतः युक्त होता है)। जिस (तेज) से देवता पहले देवताओं की पदवी को प्राप्त हुए। हे अग्निदेव! अब मुझे उसी तेज से (युक्त कर के) तेजस्वी बनाओ।

१३२. हे जातवेदस् देव! आहुति पड़ने पर जो तेरा तेज (और) महान् हो जाता है, जितना सूर्य का और बड़े हाथी का तेज होता है, (कमलमाला से अलंकृत) या (पुष्कल बल वाले) अश्विदेवता मुझे उतना महाबल प्रदान करें।

१३३. जिस प्रकार चारों दिशाएं (विस्तृत) हैं, जिस प्रकार दृष्टि (दूर-दूर तक) व्यापक हो जाती है, उसी प्रकार मेरे अन्दर वह महाबल, जो हाथी के बल के समान है, प्राप्त होता हुआ (मेरे अङ्ग अङ्ग में) समा जाए।

१३४. अधिक बल वाले (सब) पशुओं में हाथी का स्थान सब से बढ़ा चढ़ा हुआ है। मैं उस के (बल के समान) प्रताप युक्त वाला बलद्वारा अपने आप को अभिषिक्त करता हूं।

१३१. अ. ३, २२, १; १३२. अ. ३, २२, ४; १३३. अ. ३. २२, ५; १३४. अ. ३, २२, ६.

२८. मधुर-प्रभावुकं जीवनम्

१३५. यद् वदामि मधुमत् तद्वदामि,
यदीक्षे तद् वनन्ति मा ।
त्विषीमानस्मि जूतिमान्,
अवान्यान् हन्मि दोधतः ॥

१३६. अश्विना सारघेण मा,
मधुनाङ्क्तं शुभस्पती ।
यथा भर्गस्वतीं वाचम्,
आवदानि जनाँ अनु ॥

१३७. मयि वर्चो अथो यशो,
ऽथो यज्ञस्य यत्पयः ।
तन्मयि प्रजापतिर्,
दिवि द्यामिव दृंहतु ॥

१३८. यथेन्द्रो द्यावापृथिव्योर्यशस्वान्,
यथाप ओषधीषु यशस्वतीः ।
एवा विश्वेषु देवेषु,
वयं सर्वेषु यशसः स्याम ॥

१३५. अ. १२,१,५८; १३६. अ. ६,६९,२; १३७. अ. ६,
६९,३; १३८. अ. ६,५८,२.

२८. मधुर-प्रभावशाली जीवन—

१३५. मैं जो कुछ कहूं, मीठा कहूं। मैं जब (लोगों की ओर) देखूं (तो मीठी आंख से देखूँ, ताकि) तब (वे भी) मुझ से प्यार करने लगें। मैं प्रकाश और प्रेरणा को धारण करूँ (और उन) दूसरों को मार भगाऊँ, जो (हमारे प्रति) शत्रुता करने वाले हों।

१३६. हे शोभा-युक्त, अश्विदेवो! मुझे शहद की सी मिठास से भर दो। लोगों के प्रति मैं जो भी वाणी बोलूं, वह मिठास से भरी हो।

१३७. (मेरा जीवन) यज्ञ के (भाव से भरा हो और उस से) जो तेज, (जो) यश, (और जो) पुष्टिकारक (रस पैदा हो सकता है, वह सब) मेरे अन्दर हो। प्रजापति देव उसे मेरे अन्दर (उसी प्रकार से) प्रतिष्ठित करे, जिस प्रकार (उसने) द्युलोक में तारा गण को प्रतिष्ठित कर रखा है।

१३८. भूमि और आकाश में इन्द्र देवता की महिमा हो रही है। जैसे ओषधियों में जल देवता की महिमा हो रही है, वैसे (ही) सभी देवताओं के मध्य में हम (भी) यश वाले हों।

१३५. अ. १२, १, ५८; १३६. अ. ६, ६९, २; १३७. अ. ६, ६९, ३; १३८. अ. ६, ५८, २.

१३९. यशा इन्द्रो यशा अग्निर्,
यशाः सोमो अजायत ।
यशा विश्वस्य भूतस्या,
ऽहमस्मि यशस्तमः ॥२८॥

२६. मधुरं जीवनम्

१४०. मधु जनिषीय,
मधु वंशिषीय ।
पयस्वानग्न आगमं,
तं मा संसृज वर्चसा ॥

१४१. सं माग्ने वर्चसा सृज,
सं प्रजया समायुषा ।
विद्युर्मे अस्य देवा,
इन्द्रो विद्यात्सह ऋषिभिः ॥

१४२. यथा मधु मधुकृतः,
सम्भरन्ति मधावधि ।
एवा मे अश्विना वर्च,
आत्मनि ध्रियताम् ॥

१३६. अ. ६,५८,३; १४०. अ. ६,१,१४; १४१. अ. ६,१,१५; १४२. अ. ६,१,१६.

१३९. इन्द्रदेव महिमा वाला हो रहा है। अग्निदेव महिमा वाला हो रहा है। सोमदेव महिमा वाला हो रहा है। इसी प्रकार मैं भी सब लोगों के बीच में महिमा वाला हो रहा हूं, सब से बढ़ कर महिमा वाला हो रहा हूं।

२९. मधुर-जीवन—

१४०. हे अग्निदेव! मैं मधुपुष्ट होता हुआ प्रकट होऊँ। मैं मधुपुष्ट होता हुआ वृद्धि को प्राप्त होऊँ। मैं मधुपुष्ट होता हुआ (तुम्हारे सामने) आऊँ, उस मुझ को (तुम) तेज से युक्त कर दो।

१४१. हे अग्निदेव! मुझे प्रताप से युक्त करो। मुझे प्रजा से युक्त करो। मुझे आयु से युक्त करो। देवताओं तक मेरी पूछ-प्रतीति हो। इन्द्र तक और ऋषियों तक मेरी पूछ-प्रतीति हो।

१४२. जैसे मधुमक्खियां मधु के ऊपर मधु जोड़ती रहती हैं, हे अश्विदेवो! वैसे ही मेरे अन्दर (प्रताप के ऊपर,) प्रताप नित्य जुड़ता रहे।

१३९. अ. ६, ५८, ३; १४०. अ. ६, १, १४; १४१. अ. ६, १, १५; १४२. अ. ६, १, १६.

१४३. यथा मक्षा इदं मधु,
न्यञ्जन्ति मधावधि ।
एवा मे अश्विना वर्चस्,
तेजो बलमोजश्च ध्रियताम् ॥
१४४. यद्गिरिषु पर्वतेषु ,
गोष्वश्वेषु यन्मधु ।
सुरायां सिच्यमानायां,
यत्तत्र मधु तन्मयि ॥२९॥

३०. सम्पुष्ट जीवनम्

१४५. सं संस्रवन्तु सिन्धवः,
सं वाताः सं पतत्रिणः ।
इमं यज्ञं प्रदिवो मे जुषन्तां,
सं स्राव्येण हविषा जुहोमि ॥
१४६. इहैव हवमायात म इह सं-,
स्रावणा उतेमं वर्धयता गिरः ।
इहैतु सर्वो यः पशुर्,
अस्मिन् तिष्ठतु या रयिः ॥

१४३. अ. ६,१,१७; १४४. अ. ६,१,१८; १४५. अ. १,१५,१; १४६. अ. १,१५,२.

१४३. जैसे (शहद की) मक्खियां मधु के ऊपर मधु थोपती जाती हैं, हे अश्वीदेवो ! वैसे ही मुझ में प्रताप, तेज बल और ओज एकत्रित होता रहे।

१४४. जो टीलों पर मिठास होती है, जो पर्वतों पर मिठास होती है जो गौओं में मिठास होती है, जो घोड़ों में मिठास होती है और जो (गुड़ आदि की) मिठास, खींची जा रही सुरा में पाई जाती है, वह स्वाभाविक मिठास मेरे अन्दर (अपने आप) पैदा होती रहे।

३०. सम्पुष्ट जीवन—

१४५. नदियां सम्पुष्ट होती हुईं खूब बहें, वायुगण सम्पुष्ट होते हुए (खूब चलें) पक्षी सम्पुष्ट होते हुए खूब (उड़ें) मैं (पूर्व दी जा चुकी आहुतियों के शेष रूप में) समुदित धारा वाहिनी (संस्रावनामक) हवि द्वारा यजन करता हूं। मेरे इस यज्ञ को सुप्रकाश युक्त देवता (गण) स्वीकार करें।

१४६. हे साझे स्तवन को ग्रहण करने वाले देवो ! (हम आपका आह्वान कर रहें हैं। आप) यहीं पधारें (और इस) आह्वान को (सुनें) और इस (यजमान) की वृद्धि करें। जो (भी सुख-साधना रूप) पशु-वर्ग (और) धन-सम्पत्ति (हो सकती है, वह) सब इस (यजमान) के यहां पहुंचे (और) स्थिर रहे।

१४३. अ. ६, १, १७; १४४. अ. ६, १, १८; १४५. अ. १, १५, १; १४६. अ. १, १५, २.

१४७. ये नदीनां संस्रवन्ति,
उत्सासः सदमाक्षिताः ।
तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्,
धनं संस्रावयामसि ॥

१४८. ये सर्पिषः संस्रवन्ति,
क्षीरस्य चोदकस्य च ।
तेभिः मे सर्वैः संस्रावैर्,
धनं संस्रावयामसि ॥

१४९. रूपं-रूपं वयो-वयः,
संरभ्यैनं परिष्वजे ।
यज्ञमिमं चतस्रः प्रदिशो वर्धयन्तु,
संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥३०॥

३१. पवित्रं जीवनम्

१५०. यत् ते पवित्रमर्चिषि, अग्ने विततमन्तरा ।
ब्रह्म तेन पुनीहि नः ॥

१४७. अ. १,१५,३; १४८. अ. १,१५,४; १४९. अ. १९, १,३; १५०. ऋ. ९,६७,२३.

१४७. जो नदियों के सोते सदा अक्षीण रहते (और भरपूर होते) बहते हैं, हम उन सब (की धाराओं के समान बहने वाली) धाराओं (के रूप में) धन-राशि को अपनी ओर बहा कर ले आते हैं।

१४८. जो घृत, दूध और जल के प्रवाह खूब बहते हैं, हम उन सब (प्रवाहों के समान बहने वाली) प्रवाह (के रूप में) धन-राशि को अपनी ओर बहा कर ले आते हैं।

१४९. इस (जीवन-संपोषक) यज्ञ का सब दिशाओं में विस्तार हो। मैं खूब धारावाहिनी आहुति से इसे सम्पन्न करता हूं। मैं (अपने) पूर्ण रूप (और) पूर्ण जीवन के स्थिर लाभ के लिए इस (यज्ञ) का पूर्णतया आश्रय लेता हूं।

३१. पवित्र-जीवन—

१५०. हे अग्निदेव ! जो पवित्र प्रकाश तेरी ज्वाला के अन्दर दीप्तिमान् हो रहा है, उसके द्वारा हमें पवित्र करो।

१४७. अ. १, १५, ३; १४८. अ. १, १५, ४; १४९. अ. १९, १, ३; १५०. ऋ. ९, ६७, २३.

१५१. पुनन्तु मा देवजनाः,
पुनन्तु मनवो धिया ।
पुनन्तु विश्वा भूतानि,
पवमानः पुनातु मा ॥

१५२. पवमानः पुनातु मा, क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।
अथो अरिष्टतातये ॥

१५३. उभाभ्यां देव सवितः, पवित्रेण सवेन च ।
अस्मान् पुनीहि चक्षसे ॥३१॥

३२. शिव-संकल्पः

१५४. यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं,
तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं,
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

१५५. येन कर्माण्यपसो मनीषिणो,
यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां,
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

१५१. अ. ६,१६,१; १५२. अ. ६,१६,२; १५३. अ. ६, १६,३. १५४. य. ३४,१; १५५. य. ३४, २.

१५१. (मेरी) भक्ति से (सन्तुष्ट होकर) देवजन मुझे पवित्र करें, मनुगण मुझे पवित्र करें, सब भूतगण मुझे पवित्र करें (और) पवित्र करने वाला भगवान् मुझे पवित्र करे।

१२. पवित्रकारी भगवान्, मुझे पवित्र करे। मेरे अन्दर भावना तथा कर्मण्यता का विकास हो। मुझे जीवन और आरोग्य प्राप्त हों।

१५३. हे सविता देव! (आप) पवित्रता और प्रेरणा दोनों के द्वारा हमें पवित्र प्रकाश से युक्त करें, ताकि हम देख-देख कर चलने वाले बन सकें।

१५४. (मन एक अत्यन्त) दिव्य (तत्त्व है)। जब मनुष्य जाग रहा होता है, तब वह दूर-दूर निकल जाता है। जब मनुष्य सो रहा होता है, तब भी वह वैसे ही घूमता है। (इस प्रकार वह निरन्तर) दूर-दूर पहुंच जाने वाला है। (यह सब) ज्योतियों (के मध्य) में अद्भुत ज्योति है। (ऐसा जो) मेरा मन (है) वह अच्छे संकल्प वाला हो।

१५५. (इस मन के द्वारा ही) कर्मठ, मनीषी और धीर सज्जन पूजा के अवसरों पर (पवित्र) कर्मों को (विस्तृत) करते हैं। (यह मन) उत्पन्न हुए प्राणिवर्ग के अन्दर अपूर्व और गुह्य (तत्त्व के रूप में) विराज रहा है। (ऐसा जो) मेरा मन (है) वह अच्छे संकल्प वाला हो।

१५१. अ. ६, १९, १; १५२. अ. ६, १९, २; १५३. अ. ६, १९, ३; १५४. य. ३४, १; १५५. य. ३६. २०.

१५६. यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च,
यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किं चन कर्म क्रियते,
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

१५७. येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्,
परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता,
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

१५८. यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन्,
प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिंश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां,
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

१५९. सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्,
नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं,
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥३२॥

१५६. य. ३४,३; १५७. य ३४,४; १५८. य. ३४, ५;
१५९. य. ३४,६.

१५६. (यह मन) जानने, पहचानने और धारण करने में मुख्य साधन है। (यह मन) उत्पन्न हुए हुए प्राणिवर्ग के अन्दर अमृत ज्योति (के रूपमें) विराज रहा हैं। (इस मन के) बिना कोई भी कर्म नहीं किया जा सकता है। (ऐसा जो) मेरा मन (है) वह अच्छे संकल्प वाला हो।

१५७. (इसी मन रूपी) अमृत (तत्व) ने भूत, भविष्य, वर्तमान और सब (संसार) को धारण कर रखा है। (इसी मन के द्वारा ही) सात होताओं वाला (जीवनरूपी) यज्ञ विस्तृत किया जा रहा है। (ऐसा जो) मेरा मन (है) वह अच्छे संकल्प वाला हो।

१५८. (इसी मन में) ऋचाएं, यजु और साम (वैसे ही) प्रतिष्ठित हो रहे हैं, जैसे रथनाभि में अरे (प्रतिष्ठित होते हैं) (इसी मन में) उत्पन्न हुए प्राणिवर्ग का सब चिन्तन ओत-प्रोत हो रहा है। (ऐसा जो) मेरा मन (है,) वह अच्छे संकल्प वाला हो।

१५९. (यही मन) मनुष्यों को (विभिन्न वृत्तियों द्वारा वशीभूत करता हुआ उन्हें वैसे ही) पूर्णतया हांकता है, जैसे चतुर सारथि बलवान् घोड़ों को रासों द्वारा (वशीभूत करता हुआ हांकता है)। वह (यह मन) हृदय में प्रतिष्ठित (रहता) है। (यह कभी) बूढ़ा नहीं होता। (यह) वेग में सब से आगे रहता है। (ऐसा जो) मेरा मन (है,) वह अच्छे संकल्प वाला हो।

१५६. य. ३४, ३; १५७. य. ३४, ४; १५८. य. ३४, ५; १५९. य. ३४, ६.

३३. पाप निर्मोचणम्

१६०. यद्देवा देवहेडनं,
देवासश् चकृमा वयम्।
आदित्यास्तस्मान्नो -यूयम्,
ऋतस्यर्तेन मुञ्चत ॥

१६१. ऋतस्यर्तेनादित्या,
यजत्रा मुञ्चतेह नः।
यज्ञं यद् यज्ञवाहसः,
शिक्षन्तो नोपशेकिम ॥

१६२. यद्विद्वांसो यदविद्वांस,
एनांसि चकृमा वयम्।
यूयं नस्तस्मान्मुञ्चत,
विश्वे देवाः सजोषसः ॥

१६३. यदि जाग्रद्यदि स्वपन्-न्,
एन एनस्योऽकरम्।
भूतं मा तस्माद्भव्यं च,
द्रुपदाद् इव मुञ्चताम् ॥

१६०. अ. ६,११४,१; १६१. अ. ६,११४,२; १६२. अ. ६, ११५,१; १६३. अ. ६,११५,२.

३३. पाप से छुड़ावा—

१६०. हे देवताओ ! हमने जो तुम्हारा अपमान किया है, (उस पर हम अब पछताते हैं), हे आदित्यो ! तुम अपने परम सत्य के द्वारा हमें उस (पाप-संस्कार) से छुड़ाओ।

१६१. हे पूजनीयो ! तुम यज्ञों को पूर्ण कराने वाले हो। (हमें दुःख है, कि) हम (आरंभ किए हुए) यज्ञ को पूरा करने की इच्छा रखते हुए भी पूरा कर नहीं पाए। इसलिए हे आदित्यो ! अपने परम सत्य के द्वारा हमें (इस अपराध से) छुड़ाओ।

१६२. (यह सत्य है कि) हमने जानते हुए (भी और) न जानते हुए (भी अनेक) पापकर्म किए हैं। हे परस्पर मिले हुए सब देवताओ ! तुम हमें उस (अपराध) से मुक्त करो।

१६३. यदि सोते या जागते हुए मुझ पापी ने कोई पाप किया है (और मैं उस से ऐसे ही बंध रहा हूँ, जैसे कोई पशु लकड़ी के खूँटे से जकड़ा हुआ हो), तो मेरे भूतकाल (के संचित शुभ संस्कार) और वर्तमान (के सुकर्म) मुझे इस (के पंजे से) छुड़ाएँ, जैसे (बंधे हुए पशु को) खूंटे से मुक्त करते हैं।

१६०. ६, ११४,१; १६१. अ. ६. ११४, २; १६२. अ. ६, ११५,१; १६३. अ ६,११५,२.

१६४. द्रुपदाद् इव मुमुचानः,
स्विन्नः स्नात्वा मलादिव ।
पूतं पवित्रेणेवाज्यं,
विश्वे शुम्भन्तु मैनसः ॥३३॥

३४. पापात्-संरक्षणम्

१६५. यदस्मृति चकृम किं चिदग्न,
उपारिम चरणे जातवेदः ।
ततः पाहि त्वं नः प्रचेतः,
शुभे सखिभ्यो अमृतत्वमस्तु नः ॥

१६६. यच्चिद्धि ते विशो यथा, प्र देव वरुण व्रतम् ।
मिनीमसि द्यविद्यवि ॥

१६७. मा नो वधाय हत्नवे, जिहीळानस्य रीरधः ।
मा हृणानस्य मन्यवे ॥

१६८. यत्किञ्चेदं वरुण दैव्ये जने,
ऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि ।
अचित्त्या चेत्तव धर्मा युयोपिम,
मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः ॥

१६४. अ. ६,११५,३; १६५. अ. ७,१०६,१; १६६. ऋ. १,२५,१; १६७. ऋ. १,२५,२; १६८. ऋ. ७,८९,५.

१६४. (देव-प्रसादन द्वारा) सब (देवता) पाप से (निर्मुक्त करके) मुझे प्रकाश-युक्त कर दें। (मेरी वैसी ही स्थिति हो जाय) जैसी खूंटे से छूट चुके (पशु की) होती है, जैसी पसीना लेकर अथवा स्नान करके मल से (मुक्त हो चुके की होती है) (और) जैसी पोणे से पुणे गए घी की होती है।

३४. पाप से संरक्षण—

१६५. हे अग्निदेव ! हे उत्तम प्रकाश वाले (प्रभो)! हमारे आचरण में (हमारी) भूल के कारण जो (कुछ) कमी रह गई हो, या उल्टा हो गया हो, हे जाननहार ! तुम उस (दोष के प्रभाव) से हमें बचाओ। (हम तुम्हारे) सखा हैं, इसलिए (तुम्हारा) अमृतभाव हमारे कल्याण का साधक ही होना चाहिए।

१६६. हे वरुणदेव ! माना, कि हम प्रतिदिन तेरी आज्ञाओं का उल्लंघन कर बैठते हैं। पर (क्या यह ठीक नहीं कि) हम (तेरे लिए) तेरी प्रजा-रूप ही तो हैं।

१६७. इसलिए, हे भगवन् ! हमारा कचूमर मत निकाल। हमारी इतनी बुरी मार-पीट मत कर। हम पर रुष्ट होकर अति क्रोध मत कर।

१६८. हे वरुण देव ! हम साधारण मनुष्य हैं हम कभी न कभी (जानते हुए भी) देवताओं के प्रति द्रोह कर बैठते हैं। कभी-कभी अनजाने में तो हम तुम्हारे नियमों का भंग करते ही रहते हैं। हे देव ! हमारे (मनों से) इस (दोनों प्रकार के) पाप का संस्कार दूर हो। हमारा इससे नाश मत हो।

१६४. मा. २०, २०; १६५. अ. ७, १०६, १; १६६. ऋ. १. २५,१; १६७. ऋ. १,२५,२; १६८. ऋ. ७,८६,५.

१६९. मा नो हासिषुर्ऋषयो दैव्या ये,
तनूपा ये नस्तन्वास्तनूजाः ।
अमर्त्या मर्त्यां अभि नः सचध्वम् ,
आयुर्धत्त प्रतरं जीवसे नः ॥३४॥

३५. सुसंस्कार-प्रबोधनम्

१७०. अग्ने त्वं सु जागृहि,
वयं सु मन्दिषीमहि ।
रक्षा णो अप्रयुच्छन् ,
प्रबुधे नः पुनस्कृधि ॥

१७१. पर्यावर्ते दुष्वप्न्यात् ,
पापात्स्वप्न्याद्भूत्याः ।
ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे ,
परा स्वप्नमुखाः शुचः ॥

१७२. अपेहि मनसस्पते ,
ऽपक्राम परश्चर ।
परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व,
बहुधा जीवतो मनः ॥

१६९. अ. ६, ४१, ३; १७०. य. ४,१४; १७१. अ. ७, १००,१; १७२. ऋ. १०,१६४,१.

१६९. (हमारे पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, प्राण और अपान रूपी सात) ऋषि हमें मत छोड़ें। ये (ज्ञान और जीवन की) दीप्ति से युक्त हैं। ये हमारे शरीर (के अन्दर) से पैदा होते हुए हमारे शरीर की रक्षा करने वाले होते हैं। हे (हमारे) न मरने वाले (प्राणो)! (जब तुम हमें छोड़ जाते हो) तो हम मृत्यु-ग्रस्त (हो जाते हैं, इसलिए तुम) हमारे साथ जुड़े रहो और हमें चिर तक बनी रहने वाली जीवन (रूपी) आयु से पूर्ण कर दो।

३५. सुसंस्कार का प्रबोधन—

१७०. हे अग्नि देव! तू अच्छे प्रकार जाग (ताकि) हम अच्छे प्रकार आनन्दित हो सकें। तू सदा ध्यान-पूर्वक हमारी रक्षा कर। (हम सो रहे थे, अब) फिर हमें जागृत कर।

१७१. मैं बुरी निद्रा को छोड़ता हूँ। मैं पाप-युक्त निद्रा को छोड़ता हूँ। मैं बेहोशी को छोड़ता हूं। मैं (ऐसे) मंत्रों को अपनी ढाल बनाता हूँ (जिनके मनन द्वारा) सोते समय आ घेरने वाले शोक-संतापों को परास्त कर सकूं।

१७२. हे (मेरे) मन को वशीभूत करने वाले (पापात्मक संकल्प)! तू भाग जा, हट जा, परे चला जा। (हम से) दूर (कहीं और जाकर ही तुम्हें) कष्ट (पैदा करने) के लिए प्रकट (होना हो,तो) होवो। जीते-जागते का मन कई प्रकार का होता है। (इसलिए अब तुझ से छुट्टी ही चाहता हूँ)।

१६९. अ. ६,४१,३; १७०. य. ४,१४; १७१. अ. ७,१००,१; १७२. ऋ १०,१६४,१.

१७३. भद्रं वै वरं वृणते,
भद्रं युञ्जन्ति दक्षिणम् ।
भद्रं वैवस्वते चक्षुर्,
बहुत्रा जीवतो मनः ॥

१७४. यदाशसा निःशसाभिशसा,
उपारिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः ।
अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतानि,
अजुष्टान्यारे अस्मद् दधातु ॥३५॥

३६. यज्ञमय-जीवनस्य साफल्यम्

१७५. उत् तिष्ठ ब्रह्मणस्पते,
देवान् यज्ञेन बोधय ।
आयुः प्राणं प्रजां पशून्,
कीर्त्तिं यजमानं च वर्धय ॥

१७३. ऋ. १०, १६४, २; १७४. ऋ. १०, १६४, ३;
१७५. अ. १९,६३,१.

१७३. लोग भले (व्यक्ति) से (ही) कामना पूरी करना चाहते हैं। लोग (हल के आगे) दाईं ओर (उसी बैल को) जोड़ते हैं (जो दूसरों की अपेक्षा अधिक अच्छा होता है)। भलाई (जीवन में वैसा ही महत्त्व रखती हैं, जैसा) सूर्य में (उसकी) दीप्ति। जीते-जागते के मन की अनेक (भली और बुरी) प्रवृत्तियाँ होती हैं (हमारा कर्त्तव्य भली प्रवृत्तियों का अनुसरण करना ही होना चाहिए)।

१७४. आशा, निराशा और (किसी को) शाप (देने के भाव) से युक्त होकर हम सोते हुए (अथवा) जागते हुए जो (कुच्छ) उलटा कर्म कर बैठे हों (उसके तथा हमारे अन्य) सब अप्रिय लगने वाले दुष्कर्मों (के प्रभावों को) अग्निदेव हमसे दूर रखे।

३६. यज्ञमय जीवन की सफलता—

१७५. हे वेद-पाठ के देवता! उठो, देवताओं को यज्ञ का संदेश सुनाओ। आयु बढ़ाओ। प्राण बढ़ाओ। प्रजा बढ़ाओ। पशु बढ़ाओ। कीर्ति बढ़ाओ। यज्ञ करने वाले को (हर प्रकार से) बढ़ाओ।

१७३. ऋ.१०,१६४,२; १७४. ऋ. १०,१६५,३; १७५. अ. १६.६३,१.

१७६. वाजश्च मे प्रसवश्च मे,
प्रयतिश्च मे प्रसितिश्च मे,
धीतिश्च मे क्रतुश्च मे,
स्वरश्च मे श्लोकश्च मे,
श्रवश्च मे श्रुतिश्च मे,
ज्योतिश्च मे स्वश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥
१७७. प्राणश्च मेऽपानश्च मे,
व्यानश्च मेऽसुश्च मे,
चित्तं च म आधीतं च मे,
वाक् च मे मनश्च मे,
चक्षुश्च मे श्रोत्रं च मे,
दक्षश्च मे बलं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥
१७८. ओजश्च मे सहश्च म,
आत्मा च मे तनूश्च मे,
शर्म च मे वर्म च मे,
ऽङ्गानि च मेऽस्थीनि च मे,
परूंषि च मे शरीराणि च म,
आयुश्च मे जरा च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

१७६. य. १८,१; १७७. य. १८,२; १७८. य. १८,३.

१७६. मेरी वृद्धिकारी शक्ति और मेरी वृद्धि, मेरा दान और मेरा आदान, मेरे पूजा-पाठ और मेरे धर्म-कर्म, मेरा (मुखद्वारा) बोलना और मेरी बोलने की शक्ति, मेरा (कानों द्वारा) सुनना और सुनने की शक्ति, मेरा (आंखों का) प्रकाश और मेरी देखने की शक्ति, (ये सब) यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों।

१७७. मेरा प्राण और मेरा अपान, मेरा ध्यान और मेरा श्वास, मेरा चित्त और मेरा चिन्तन, मेरी वाणी और मेरा मन, मेरी चक्षु और मेरा श्रोत्र, मेरी क्षमता और मेरा बल, (ये सब) यज्ञ द्वारा समुन्नत हों।

१७८. मेरा प्रताप और मेरा प्रभाव, मेरा धड़ और मेरा तन, मेरा चर्म और मेरी त्वचा, मेरे अंग और मेरी हड्डियाँ, मेरे जोड़ और मेरी संधियाँ, मेरी आयु और मेरा बुढ़ापा, (ये सब) यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों।

१७६. य. १८.१; १७७. य. १८,२; १७८. य.१८,३.

१७९. ज्यैष्ठ्यं च म आधिपत्यं च मे,
मन्युश्च मे भामश्च मे,
ऽमश्च मेऽम्भश्च मे,
जेमा च मे महिमा च मे,
वरिमा च मे प्रथिमा च मे,
वर्षिमा च मे द्राघिमा च मे,
वृद्धं च मे वृद्धिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

१८०. सत्यं च मे श्रद्धा च मे,
जगच्च मे धनं च मे,
विश्वं च मे महश्च मे,
क्रीडा च मे मोदश्च मे,
जातं च मे जनिष्यमाणं च मे,
सूक्तं च मे सुकृतं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

१८१. ऋतं च मेऽमृतं च मे,
ऽयक्ष्मं च मेऽनामयच्च मे,
जीवातुश्च मे दीर्घायुत्वं च मे,
ऽनमित्रं च मेऽभयं च मे,
सुखं च मे शयनं च मे,
सूषाश्च मे सुदिनं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

१७९. य. १८,४; १८०. य. १८,५; १८१. य. १८,६.

१७९. मेरा ज्येष्ठ भाव और मेरा आधिपत्य, मेरा क्रोध और मेरा आमर्ष, मेरा बल और मेरी शक्ति, मेरी जीत और मेरी महिमा, मेरी विशालता और मेरा विस्तार, मेरा विस्तार और मेरी दीर्घता, मेरा बड़प्पन और मेरी वृद्धि, (ये सब) यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों।

१८०. मेरा सत्य और मेरी श्रद्धा, मेरा (पशुरूपी) चेतन (धन) और मेरा (अन्य जड़) धन, मेरी व्यापकता और मेरा फैलाव, मेरी क्रीडा और मेरा प्रमोद, मेरा बन चुका (वैभव) और बनने जा रहा (वैभव), मेरा अच्छा वचन और मेरा अच्छा कर्म, (ये सब) यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों।

१८१. मेरी स्वस्थता और मेरी अमरता, मेरी अक्षीणता और मेरी नीरोगता, मेरा जीवन और मेरी दीर्घायुता, मेरी निःशत्रुता और मेरा अभय, मेरा सुख और मेरा चैन, मेरा सु-प्रभात और मेरा सु-दिन, (ये सब) यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों।

१७९. य. १८,४; १८०. य. १८,५. १८१. य. १८, ६.

१८२. यन्ता च मे धर्ता च मे,
क्षेमश्च मे धृतिश्च मे,
विश्वं च मे महश्च मे,
संविच्च मे ज्ञात्रं च मे,
सूश्च मे प्रसूश्च मे,
सीरं च मे लयश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

१८३. शं च मे मयश्च मे,
प्रियं च मेऽनुकामश्च मे, ।
कामश्च मे सौमनसश्च मे,
भगश्च मे द्रविणं च मे ।
भद्रं च मे श्रेयश्च मे,
वसीयश्च मे यशश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

१८४. ऊर्क् च मे सूनृता च मे,
पयश्च मे रसश्च मे,
घृतं च मे मधु च मे,
सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे ॥
कृषिश्च मे वृष्टिश्च मे,
जैत्रं च मे औद्भिद्यं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

१८२. य. १८,७; १८३. य. १८,८; १८४. य. १८,९.

१८२. मेरी थामने की शक्ति और मेरी धारण करने की शक्ति, मेरा कुशल और मेरी स्थिरता, मेरी व्यापकता और मेरा फैलाव, मेरी विद्या और मेरा ज्ञान, मेरी संतति और मेरी संतति की संतति, मेरी खेती और मेरा (खेती का) फल, (ये सब) यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों।

१८३. मेरा सुख और मेरा आनन्द, मेरी प्रीति का विषय और मेरी अनुकूलता का विषय, मेरी चाहना और मेरी चाह-भरी मन की सद्भावना, मेरा ऐश्वर्य और मेरा वैभव, मेरा भद्र और मेरा कल्याण, मेरी कीर्ति और मेरा यश, (ये सब) यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों।

१८४. मेरा अन्न और मेरी रसना, मेरा दूध और मेरा रस, मेरा घी और मेरा शहद, मेरा भोजन और मेरा पोषण, मेरी खेती और मेरी बाड़ी और (उससे हुई) मेरी उपज और (पौधों से हुई) मेरी पैदावार, (ये सब) यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों।

१८२, य. १८,७. १८३. य. १८,८. १८४. य. १८,९.

१८५. रयिश्च मे रायश्च मे,
पुष्टं च मे पुष्टिश्च मे,
विभु च मे प्रभु च मे,
पूर्णं च मे पूर्णतरं च मे ।
कुयवं च मेऽक्षितं च मे,
ऽन्नं च मेऽक्षुच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

१८६. वित्तं च मे वेद्यं च मे,
भूतं च मे भविष्यच्च मे ।
सुगं च मे सुपथ्यं च मे,
ऋद्धं च म ऋद्धिश्च मे,
क्लृप्तं च मे क्लृप्तिश्च मे,
मतिश्च मे सुमतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

१८७. व्रीहयश्च मे यवाश्च मे,
माषाश्च मे तिलाश्च मे ।
मुदगाश्च मे खल्वाश्च मे,
प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे ।
श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे,
गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

१८५. य. १८,१०; १८६. य. १८,११; १८७. य. १८,
१२.

१८५. मेरा धन और मेरी संपत्ति, मेरा पालन और मेरा पोषण, मेरा वैभव और मेरी प्रभुताई, मेरी पूर्णता और (उसका उत्तरोत्तर) अतिशय, मेरे धान्य की प्रचुरता और मेरी अक्षीणता, मेरा अन्न और मेरी तृप्ति, (ये सब) यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों।

१८६. मुझे (हो चुकी) प्राप्ति और मुझे (होने वाली) प्राप्ति, मेरा भूत और मेरा भविष्यत्, मेरा सुख और मेरा सुख (से) युक्त होना, मेरे (हाँ) धान्य (की) प्रचुरता और मेरी (अन्य सब प्रकार की) समृद्धि, मेरा सामर्थ्य और मेरी क्षमता, मेरी मति और मेरी सुमति, (ये सब) यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों।

१८७. मेरे चावल और मेरे जौ, मेरे उड़द और मेरे तिल, मेरे मूंग और मेरे खल्व, मेरे प्रियंगु और मेरे अणु, मेरे श्यामाक और मेरे नीवार, मेरे गेहूँ और मेरे मसूर, (ये सब) यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों।

१८५. य. १८,१०. १८६. य. १८,११. १८७. य. १८, १२.

१८८. अश्मा च मे मृत्तिका च मे,
गिरयश्च मे पर्वताश्च मे ।
सिकताश्च मे वनस्पतयश्च मे,
हिरण्यं च मेऽयश्च मे,
श्यामं च मे लोहं च मे,
सीसं च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

१८९. अग्निश्च म आपश्च मे,
वीरुधश्च म ओषधयश्च मे,
कृष्टपच्याश्च मेऽकृष्टपच्याश्च मे,
ग्राम्याश्च मे पशव आरण्याश्च मे,
वित्तं च मे वित्तिश्च मे,
भूतं च मे भूतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

१९०. वसु च मे वसतिश्च मे,
कर्म च मे शक्तिश्च म,
ऽर्थश्च म एमश्च म,
इत्या च मे गतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥३६॥

१८८. य. १८,१३; १८९. य. १८,१४; १९०. य. १८, १५.

१८८. मेरे पत्थर और मेरी मिट्टी, मेरे टीले और मेरे पर्वत, मेरे रेतीले स्थान और मेरे जंगल, मेरा सोना और मेरी चांदी, मेरा लोहा और मेरा तांबा, मेरा सीसा और मेरा रांगा, (ये सब) यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों।

१८९. मेरी अग्नि और मेरा जल, मेरी बेलें और मेरे बूटे, मेरी खेती की उपज और मेरी जंगली उपज, मेरे घरेलू पशु और मेरे जंगली पशु, मेरा धन और मेरी सम्पत्ति, मेरा ऐश्वर्य और मेरा वैभव, (ये सब) यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों।

१९०. मेरा ठहराव और मेरा बसेरा, मेरा कर्म और मेरी शक्ति, मेरा प्रयोजन और मेरा लक्ष्य, मेरा हिलना-जुलना और मेरा चलना-फिरना, (ये सब) यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों।

१८८. य. १८, १३; १८९. य. १८, १४; १९०. य. १८, १५.

३७. संजीवनम्

१९१. न्यग् वातोऽव वाति,
न्यक् तपति सूर्यः ।
नीचीनमघ्न्या दुहे,
न्यग् भवतु ते रपः ॥

१९२. अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः ।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः ॥

१९३. उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः ।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥

१९४. द्वाविमौ वातौ वात,
आ सिन्धोरा परावतः ।
दक्षं ते अन्य आ वातु,
परान्यो वातु यद्रपः ॥

१९५. आ त एतु मनः पुनः, क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।
ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥

१९१. ऋ. १०,६०,११; १९२. ऋ. १०,६०,१२; १९३. ऋ. १०,१३७,१; १९४. ऋ. १०,१३७,२; १९५. ऋ. १०,५७,४.

३७. संजीवन—

१६१ वायु (आकाश से) नीचे (झुका हुआ) होकर (निचले लोक में) चलता है। सूर्य (अपनी किरणों को) नीचे की ओर (झुकाता हुआ) चमकता है। गौ (अपने दूध की धाराओं को) नीचे की ओर (फेंकती हुई) दुही जाती है। तेरा रोग (भी इसी प्रकार) नीचे (फेंक दिया जाने वाला) हो।

१६२. यह मेरा हाथ शक्तिशाली है। मेरा यह दूसरा हाथ और भी बढ़कर शक्तिशाली है। यह मेरा (हाथ) सब रोगों का इलाज कर सकता है। यह (मेरा दूसरा हाथ) सुख को लाने वाला है।

१६३. हे देवताओ ! क्या हुआ यदि (यह अपने आचार-व्यवहार में) नीचे गिर गया है, तुम (इसे) उठा कर फिर ऊँचा कर दो। हे देवताओ ! क्या हुआ यदि (यह) कोई अपराध कर बैठा है, तुम (इसे) दुबारा जीवन प्रदान करो।

१६४. ये दोनों हवाएँ चल रही हैं। एक सागर से उठ रही है और दूसरी पर्वत से आ रही है। एक तेरे अन्दर शक्ति का संचार करती रहे और दूसरी तेरे (अन्दर से) रोग को (निकाल कर) दूर धकेलती रहे।

१६५. उठो, फिर से होश में आओ। संकल्प, उत्साह (और) जीवन को धारण करो। अभी तुम्हें लगातार सूर्य भगवान् के दर्शन करते रहना है।

१६१. ऋ १०,६०,११; १६२. ऋ. १०,६०,१२; १६३. ऋ. १०, १३७, १; १६४. ऋ. १०, १३७, २; १६५. ऋ. १०,५७, ४.

१९६. अनुहूतः पुनरेहि विद्वानुदयनं पथः ।
आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम् ॥३७॥

३८. मृत्यु-निवारणम्

१९७. अयं लोकः प्रियतमो,
देवानामपराजितः ।
यस्मै त्वमिह मृत्यवे,
दिष्टः पुरुष जज्ञिषे ॥
स च त्वानु ह्वयामसि,
मा पुरा जरसो मृथाः ॥

१९८. संक्रामतां मा जहीतां शरीरं,
प्राणापानौ ते सयुजाविह स्ताम् ।
शतं जीव शरदो वर्धमानो,
ऽग्निष्टे गोपा अधिपा वसिष्ठः ॥

१९९. आयुर्यत्ते अतिहितं पराचैर्,
अपानः प्राणः पुनरा ताविताम् ।
अग्निष्टदाहार्निर्ऋतेरुपस्थात्,
तदात्मनि पुनरा वेशयामि ते ॥

१९६. अ. ५,३०,७; १९७. अ. ५,३०,१७; १९८. अ. ७,
५३,२; १९९. अ. ७,५३,३.

१९६. तुम (मौत की ओर क्यों जा रहे हो ?) मैं तुम्हें पीछे बुला रहा हूँ । वापस लौटो । सभी जीते-जागते लोगों के मार्ग को पहचानने वाले (बनो) । (व्यापक जीवन के उस) पथ (के यात्री बनते हुए) ऊपर उठना, ऊपर चढ़ना और आगे बढ़ना जानने वाले (बनो) ।

३८. मृत्यु-निवारण—

१९७. यह (मानव जीवन रूपी) लोक पराजय से मुक्त (रहता हुआ ही) देवताओं का अत्यन्त प्रिय (बन सकता) है । हे पुरुष ! जिस मृत्यु के प्रति (तुम समझते हो कि तुम अब) संकल्पित हो चुके हो, (हम) तुम्हें उस (के चंगुल) से (छुड़ाते हुए) पीछे (लौट आने के लिए) बुला लाते हैं । तुम (पूरी) आयु (भोगने) से पहले मत मरो ।

१९८. (तुम्हारे प्राण और अपान फिर से) चलने लग जाएँ, (और तुम्हारे) शरीर को छोड़ मत जाएँ । (तुम्हारे) इस (जीवन) में प्राण और अपान तुम्हारे साथी (बने रहने वाले) हों । तुम बढ़े चलो (और) सौ वर्ष पर्यन्त जीते रहो (जीवन-स्वरूप स्वयं) अग्नि (देव) तुम्हारा सर्वोत्तम अधिपति और रक्षक (बना रहा) है ।

१९९. (अब) जब कि तुम्हारी आयु अत्यन्त समाप्त (ही) होने को है, (तो हम ऐसा उपाय करते हैं कि) वे (प्रायः बाहिर जा चुके) प्राण और अपान पुनः (तुम्हारे शरीर में) आ जावें । अग्नि (देव तुम्हारे) उस (जा-चुकी सी आयु) को (मानो) मौत के चंगुल से (छुड़ा कर लौटा) लाया है । उसे मैं पुनः तुम्हारे शरीर में भरे देता हूँ ।

१९६. अ. ५, ३०, ७; १९७. अ. ५, ३०, १७; १९८. अ. ७, ५३, २; १९९. अ. ७, ५३, ३.

२००. मेमं प्राणो हासीन्मो अपानो
ऽवहाय परा गात् ।
सप्तर्षिभ्य एनं परि ददामि,
त एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु ॥

२०१. प्र विशतं प्राणापानाव्,
अनड्वाहाविव व्रजम् ।
अयं जरिम्णः शेवधिर्,
अरिष्ट इह वर्धताम् ॥

२०२. आ ते प्राणं सुवामसि,
परा यक्ष्मं सुवामि ते ।
आयुर्नो विश्वतो दधद्,
अयम् अग्निर् वरेण्यः ॥

२०३. व्यवात् ते ज्योतिरभूद्,
अप त्वत्तमो अक्रमीत् ।
अप त्वन्मृत्युं निर्ऋतिम्,
अप यक्ष्मं नि दध्मसि ॥३८॥

२००. अ. ७,५३,४; २०१. अ. ७, ५३,५; २०२. अ. ७, ५३,६; २०३. अ. ८,१,२१.

२००. न इसे प्राण छोड़े और न ही इसे अपान छोड़ कर भाग निकले। मैं (इसके संरक्षणार्थ इसे) सप्त ऋषियों की देख-रेख में रखता हूँ। वे इसे धारण किये रहें (ताकि) ये सुख-पूर्वक पूर्ण आयु प्राप्त कर सकें।

२०१. हे प्राण! हे अपान! (आओ, इसके शरीर में) प्रवेश करो। जैसे बैल बाड़े में (प्रवेश करते हैं।) यह नीरोग (रहता हुआ) बढ़े (और) पूर्ण आयु (रूपी धन) का कोष (बना रहे)।

२०२. हम तेरे अन्दर प्राण-शक्ति को लाकर भर देते हैं। हम तेरे क्षय रोग को दूर भगा देते हैं। यह देदीप्यमान अग्नि (देव, तुम्हें और) हमें पूर्ण आयु प्रदान करे।

२०३. तेरी (चेतना) भली भान्ति जाग पड़ी है। (तेरी) ज्योति (जगमगा उठी) है। (मौत का) अन्धेरा तुम से दूर जा चुका है। हम मौत को, दुःख-दर्द को, रोग-शोक को तुझ से दूर (ही) रखे देते हैं।

२००. अ. ७, ५३, ४; २०१. अ. ७, ५३, ५; २०२. अ. ७, ५३, ६; २०३ अ. ८, १, २१.

३६. पुनर्-जीवनम्

२०४. शतं जीव शरदो वर्धमानः,
शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान् ।
शतमिन्द्राग्नी सविता बृहस्पतिः,
शतायुषा हविषेमं पुनर्दुः ॥

२०५. आहार्षं त्वाऽविदं त्वा,
पुनरागाः पुनर्नव ।
सर्वाङ्ग सर्वं ते चक्षुः,
सर्वमायुश्च तेऽविदम् ॥

२०६. अङ्गादङ्गाल् लोम्नो लोम्नो,
जातं पर्वणि पर्वणि ।
यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्,
तमिदं वि वृहामि ते ॥

२०७. आरभस्वेमाममृतस्य श्नुष्टिम्,
अच्छिद्यमाना जरदष्टिरस्तु ते ।
असुं त आयुः पुनराभरामि,
रजस्तमो मोप गा मा प्रमेष्ठाः ॥

२०४. ऋ. १०, १६१, ४; २०५. ऋ. १०, १६१, ५;
२०६. ऋ. १०,१६३,६; २०७. अ. ८,२,१

३९. पुनर्जीवन—

२०४. तू सौ शरद, सौ हेमन्त और सौ वसन्त पर्यन्त जी और बढ़ता रह। इन्द्र,अग्नि,सविता (और) बृहस्पति (देवों) ने (उनके लिए दी गई) शतायु (नामक) आहुति से (तृप्त होकर) तुम्हारे लिए सौ (वर्ष की पूर्ण आयु का) पुनः (अनुदान) देना (स्वीकार) किया है।

२०५. हे पुनः अभिनव बन चुके! मैं तुम्हें (मृत्यु से निकाल) लाया हूँ। मैंने तुम्हें पा लिया है। तुम पुनः (जीवन पाते हुए) आए हो। हे संपूर्ण अंगों वाले! मैंने (अब) तेरे लिए आँख (की) संपूर्ण (ज्योति) और संपूर्ण आयु प्राप्त कर ली है।

२०६. (तेरे) अंग-अंग (और) रोम-रोम से पैदा हुआ (रोग, तेरे) जोड़-जोड़ में (घर कर चुका है)। (परन्तु) अब मैं तेरे इस रोग को संपूर्ण शरीर से निकाल फेंकता हूँ।

२०७. यह (जीवन) अमृत की लड़ी है। इसे पक्का पकड़ ले। यह लड़ी बीच में टूटने न पाए। तुझे पूर्ण आयु प्राप्त हो। मैं तेरी प्राण शक्ति, तेरी जीवन शक्ति तेरे अन्दर दुबारा भर रहा हूँ। (अतः, अब) तू (मानसिक) आवरण और अंधेरे में प्रवेश मत कर, न मौत की लपेट में मत पड़।

२०४. अ. ७,५३, ४; २०५. अ. ७,५३, ५; २०६. अ. ७, ५३,६; २०७. अ.८.१,२१.

२०८. जीवतां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङ्,
आ त्वा हरामि शतशारदाय ।
अवमुञ्चन् मृत्युपाशानशस्तिं,
द्राघीय आयुः प्रतरं ते दधामि ॥३९॥

४०. प्राण-प्रत्यास्थापनम्

२०९. वातात्ते प्राणमविदं सूर्याच्चक्षुरहं तव ।
यत् ते मनस् त्वयि तद् धारयामि,
सं वित्स्वाऽङ्गैर्वद जिह्वयाऽऽलपन् ॥

२१०. अयं जीवतु मा मृते(त,
इ)मं समीरयामसि ।
कृणोम्य् अस्मै भेषजं,
मृत्यो मा पुरुषं वधीः ॥

२११. अस्मै मृत्यो अधि ब्रूही(हि,
इ)मं दयस्वोदितोऽयमेतु ।
अरिष्टः सर्वाङ्गः सुश्रुज्जरसा शतहायन,
आत्मना भुजम् अश्नुताम् ॥

२०८. अ. ८,२,२; २०९. अ. ८,२,३; २१०. अ. ८,२,५;
२११. अ. ८,२,८.

२०८ तू इधर जीतों के चांदने में आ। तुझे (अब मृतकों के बीच से जीतों के बीच में) लाता हूँ, (ताकि) तू सौ वर्ष की (पूर्ण आयु) भोग सके। तुम्हें (जकड़ रहे मृत्यु के फंदों को (और तुम्हें प्रतीत हो रही) बेबसी को (तुमसे) अलग करके दूर भगाता हुआ तुम्हारे भीतर दीर्घतर आयु को अच्छी तरह से स्थापित करता हूँ।

४०. प्राण-प्रत्यास्थापन—

२०९. मैं वायु से तेरे प्राण को (पुनः) लाता हूँ। मैं सूर्य से तेरे (नेत्रों के) प्रकाश को (पुनः लाता हूँ)। (पहले) तेरे (अपने) मन को (पुनः) तेरे अन्दर धारण किए देता हूँ। तू (अपने) अंगों द्वारा स्फूर्तिमान हो जा। (अभी तुम) बोल नहीं रहे, बोलो, जिह्वा (को हिलाओ)।

२१०. यह जीता रहे, मरे मत। हम इसे सब प्रकार से प्रेरणा-युक्त बनाते हैं। मैंने इसके लिए (अब) औषध बना ली है। (इसलिए) हे मृत्यो! (अब तू इस) पुरुष को मार नहीं सकेगा।

२११. हे मृत्यो! तू इसके प्रति ऊपर (उठाने वाला, उत्साहित करने वाला वचन) बोल। तू इस पर दया कर। यह यहाँ (तेरे दबाव के नीचे) से उठे (और) चलने-फिरने लग जाए। यह नीरोग रहे, इसके अंग ठीक (बने) रहें। यह ठीक सुनता रहे। यह सौ बरस की (पूरी) आयु वाला और आत्म-निर्भर होता हुआ (सर्वविध) भोग को भोगे।

२०८. अ. ८, २, २; २०९. अ. ८, २, ३; २१०. अ. ८, २,५; २११. अ. ८,२,८.

२१२. शं ते सूर्य आ तपतु,
शं वातो वातु ते हृदे ।
शिवा अभि क्षरन्तु त्वा,
ऽऽपो दिव्याः पयस्वतीः ॥

२१३. शिवास्ते सन्त्वोषधय, उत्त्वाहार्षमधरस्या,
उत्तरां पृथिवीमभि । तत्र त्वादित्यौ रक्षतां,
सूर्याचन्द्रमसावुभा ॥

२१४. यदश्नासि यत्पिबसि,
धान्यं कृष्याः पयः ।
यदाद्यं यदनाद्यं,
सर्वं ते अन्नमविषं कृणोमि ॥

२१५. शरदे त्वा हेमन्ताय वसन्ताय,
ग्रीष्माय परि दद्मसि ।
वर्षाणि तुभ्यं स्योनानि,
येषु वर्धन्त ओषधीः ॥४०॥

२१२. अ. ८,२,१४; २१३. अ. ८,२,१५; २१४. अ. ८,२,१९; २१५. अ. ८,२;२२.

२१२. (हे पुरुष !) सूर्य तेरे लिए कल्याणकारी होता हुआ तपे, और वायु तेरे लिए कल्याणकारी होता हुआ चले, (ताकि तेरा) हृदय (स्वस्थ और बलिष्ठ) बना रहे। दिव्य जल सुखमय और रसमय होते हुए तेरे प्रति प्रवाहित हों।

२१३. तेरे लिए ओषधियाँ सुखकारी हों। मैं (अब) तुझे (मौत के) पाताल से (मानो) उठा कर ऊपर को पृथिवी पर ले आया हूँ। उस (पृथिवी) पर (अब) दोनों, सूर्य और चन्द्र, जो प्रकाश के पुञ्ज हैं, तेरी रक्षा करते रहें।

२१४. (खेती की उपज के तथा उस पर आश्रित उपज के रूप में) जो दाना तू खाता है (और) जो दूध तू पीता है, (चाहे वह) ग्रहण करने के योग्य हो (और चाहे वह) ग्रहण करने के अयोग्य हो, उस तेरे सभी (कुछ) खाए (और पिए) हुए (पदार्थ) को मैं विषैले प्रभाव से मुक्त किए देता हूँ।

२१५. हम तुम्हें शरद् (काल), हेमन्त (काल), वसन्त (काल), और गरमी (के मौसम) के लिए सुरक्षित रखते हैं। वर्षा (के दिन), जिन में ओषधियाँ (खूब) बढ़ती हैं, तुम्हारे लिए सुखकारक हों।

२१२. अ. ८, २, १४; २१३. अ. ८, २, १५; २१४. अ. ८, २, १६; २१५. अ. ८, २, २२.

४१. जीवनाशीः

२१६. मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत,
द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ।
आप्यायमाना प्रजया धनेन,
शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः ॥

२१७. इमे जीवा वि मृतैराववृत्रन्न्,
अभूद् भद्रा देवहूतिर्नो अद्य ।
प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय,
द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ॥

२१८. यथाऽहान्यनुपूर्वं भवन्ति,
यथ ऋतव ऋतुभिर्यन्ति साधु ।
यथा न पूर्वमपरो जहात्ये(ति,
ए)वा धातरायूंषि कल्पयैषाम् ॥४१॥

४२. साध्यानुप्रशंसा

२१९. सर्वो वै तत्र जीवति,
गौरश्वः पुरुषः पशुः ।
यत्रेदं ब्रह्म क्रियते,
परिधिर् जीवनाय कम् ॥

२१६. ऋ. १०,१८,२; २१७. ऋ. १०,१८,३; २१८. ऋ. १०,१८,५ २१९. अ. ८, २,२५;

४१ जीवन की आशीस्—

२१६. आओ, मौत के निशान को मिटाते हुए आओ। आओ, दीर्घ आयु का विस्तार करते हुए आओ। आओ, प्रजा और धन द्वारा फैलते हुए आओ। आओ, शुद्ध, पवित्र बनते हुए आओ। आओ, यज्ञमय जीवन के योग्य बनते हुए आओ।

२१७. ये जीते-जागते लोग हैं। ये मुरदों से अलग हो गए हैं। हमारी कल्याणमयी टेर को देवताओं ने अवश्य सुना है। हम मृत्यु-क्षेत्र को पीछे छोड़) आगे बढ़ आए हैं, ताकि हम दीर्घतर आयु को अच्छे प्रकार से धारण करते हुए नाचें और हंसें।

२१८. जैसे दिन (नियत-क्रम) के अनुसार आगे (और) पीछे के चक्र में चलते हैं (और) जैसे ऋतुएँ (अपने) पर्यायों के अनुसार ठीक प्रकार से घूमती हैं। हे सब को धारण करने वाले (देव! हमारे) इन सब (लोगों) का जीवन-क्रम ठीक इसी प्रकार का बनाइए, (ताकि) कोई छोटी आयु वाला बड़ी आयु वालों के सामने परलोक को न सिधारे।

४२. साध्य की अनुप्रशंसा—

२१६. यह मन्त्र जीवन के लिए सचमुच रखवाले (का काम करने वाला) है, जहाँ इसका पाठ किया जाता है, वहाँ गौएँ, घोड़े, मनुष्य, (और अन्य) पशु सब ही जीते रहते हैं।

२१६. ऋ. १०, १८, २; २१७. ऋ. १०, १८, ३; २१८. ऋ. १०,१८,५; २१६. अ. ८,२,२५.

२२०. आगादुदगादयं,
जीवानां व्रातमप्यगात् ।
अभूदु पुत्राणां पिता,
नृणां च भगवत्तमः ॥

२२१. सूरिरसि वर्चोधा,
असि तनूपानोऽसि ।
आप्नुहि श्रेयांसम्,
अति समं क्राम ॥

२२२. शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि,
स्वरसि ज्योतिरसि ।
आप्नुहि श्रेयांसम् ,
अति समं क्राम ॥ ४२ ॥

२२०. अ. १,६,२; २२१. अ. २,११,४; २२२. अ. २, ११,५.

२२०. यह (मृत्यु मुख से प्रमुक्त होकर) जीते-जागते (लोगों के) समूह की ओर आ गया है, लौट आया है, (उन में) सम्मिलित हो गया है। यह (देखो) पुत्रों का पिता (और) मनुष्यों के (मध्य में) परम प्रतिष्ठा वाला बन गया है।

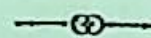
२२१. (हे, इस मन्त्र-पाठ के अनुसार जीवन-व्रत लेने वाले पुरुष !) तुम प्रकाशमान हो। तुम प्रकाश के पुञ्ज हो। तुम स्वतः ज्योतिष्मान हो। जिन के बराबर खड़े हो, तुम उनसे आगे बढ़ो। जो तुम से बढ़े हुए हैं, उन तक पहुँचने की करो।

२२२. (हे, इस मन्त्रपाठ के अनुसार चलने वाले साधक !) तुम दीप्तिमान हो, तुम भ्राजमान हो, तुम प्रकाश हो, तुम ज्योति हो। जिन के बराबर खड़े हो, तुम उनसे आगे बढ़ो। जो तुम से बढ़े हुए हैं, तुम उन तक पहुँचने की करो ॥४२॥

२२०. अ. १, ६, २; २२१. अ. २, ११, ४; २२२. अ. २, ११, ५.

४३. साध्य-संव्यापनम्

२२३. आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् ।
आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी
महारथो जायताम् ।
दोग्ध्री धेनुर्, वोढाऽनड्वान्, आशुः सप्तिः,
पुरन्धिर्योषा, जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य
यजमानस्य वीरो जायताम् ।
निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु
फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम् ।
योग-क्षेमो नः कल्पताम् ॥४३॥



अस्मिन् सुसंग्रहे भद्रे, साधिते विश्वबन्धुना ।
वेद-सार गतः खण्डः, प्रथमः साध्य-दर्शनः ॥



२२३. य. २२,२२.

४३. साध्य का संव्यापन

२२३. (हमारे) ब्राह्मण वर्ग में तप, त्याग और ज्ञान से सुशोभित जीवन वाले ब्राह्मण पैदा हों।

(हमारे) क्षत्रिय वर्ग में शूरवीर, शस्त्र-अस्त्र में निपुण, आर-पार चीरते हुए चले जाने वाले (और) रिपुदल के महाविनाशक क्षत्रिय पैदा हों।

(हमारे) इस यजन-शील (समाज) में दुधार गौएँ, (खूब हल आदि) खींचने वाले बैल, वेगगामी घोड़े, प्रजनवती महिलाएँ, विजयशील (शत्रुओं का) नाश करने वाले, सभा-कार्यों में प्रवीण वीर जवान पैदा हों।

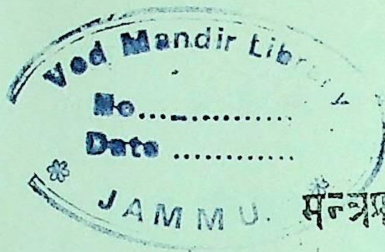
जब-जब जल न रहे (सूखा पड़ जावे) तब तब मेंह बराबर बरसा करे।

हमारी फल-लदी खेतियाँ (खूब) पकती रहें।

हमारी सुख-शान्ति (बराबर) बनी रहे ॥४३॥

विश्वबन्धु-कृत वेदसार का, साध्य खण्ड संपूर्ण हुआ।
सहृदय वाचक-गण का जीवन, सफल-मनोरथ तूर्ण हुआ॥

२२३. य. २२,२२.



मन्त्रप्रतीक-सूची

वेदसार का सूक्ति-सार

१. अदीनाः स्याम शरदः शतम् ॥६१॥ य ३६, २४.

हम सौ वर्ष तक अ-दीन (बन कर) रहें।

२. अनुहूतः पुनरेहि विद्वानुदयनं पथः ॥१९६॥
अ ५, ३०, ७.

तुम (मौत की ओर क्यों जा रहे हो ?), मैं तुम्हें पीछे बुला रहा हूं। वापिस लौटो। जीने जागने के मार्ग को पहचानने वाले (बनो)।

३. अन्नपतेऽन्नस्य नो देहि ॥३७॥ य ११, ८३.

हे अन्नपालक देव ! हमें अन्न देते रहो।

४. अपश्चादग्ध्वाऽन्नस्य भूयासम् ॥७१॥
अ १९, ५५, ५.

मैं अन्न पाने में पीछे पहुंचने वाला न होऊं।

५. अपाञ्चो यन्तु निवता दुरस्यवः ॥१२३॥
अ ५, ३, २.

हमारी हानि चाहने वाले नीचे धकेले जा कर दूर भागें।

६. अ॒यं लो॒कः प्रि॒यत॑मो दे॒वाना॒मप॑राजितः ॥१९७॥

अ ५, ३७, १७.

यह लोक देवताओं का प्यारा है। यहां पराजय का क्या काम ?

७. अ॒यं मे॒ हस्तो॒ भग॑वान् अ॒यं मे॒ भग॑वत्तरः ॥१९२॥

ऋ १०, ६०, १२.

(देखो,) यह मेरा हाथ शक्तिशाली है। (देखो,) यह मेरा दूसरा हाथ और भी बढ़ कर शक्तिशाली है।

८. अयु॑तो॒ऽहमयु॑तो मे आ॒त्मा ॥११४॥

अ १९, ५१, १.

मैं अ-हीन हूं। मेरा शरीर अ-हीन है।

९. अरि॑ष्टानि (मेऽङ्गानि) सर्वा॒ऽऽत्मा (अतिपुष्टः) ॥११६॥

अ १९, ६०, २.

मेरे सब अङ्ग ठीक हों। मेरा शरीर अतिपुष्ट हो।

१०. अरि॑ष्यन्तो॒ अनु॑ त्वेनं (क्षेत्रस्य पतिम्) चरेम ॥३६॥

ऋ ४, ५७, ३.

हम इस (क्षेत्रपति देव) की भक्ति में लगे रहें और दुःख से बचे रहें।

११. अह॒मस्मि यश॒स्तमः ॥१३९॥ अ ६, ५८, ३.

मैं सब से बढ़ कर महिमा वाला हो रहा हूं।

१२. आकूतिः सत्या मनसो मे अस्तु ॥१०१॥
ऋ १०, १२८, ४.

मेरे मन की भावना पूर्ण हो।

१३. आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः ॥१॥
ऋ १, ८९, १.

हमें सब ओर से भली भावनाएं मिलें।

१४. आपः पृणीत भेषजं, वरूथं तन्वे मम ॥२६॥
ऋ १०, ९, ७.

हे जलो! तुम आओ, ताकि मेरे शरीर को स्वास्थ्यकारी संजीवन औषध मिले।

१५. आप्नुहि श्रेयांसम् अतिसमं क्राम ॥२२१॥
अ २, ११, ४.

आओ, जिन के बराबर खड़े हो, तुम उन से आगे बढ़ो। आओ, जो तुम से बढ़े हुए हैं, उन तक पहुंचने का यत्न करो।

१६. आरे देवा द्वेषो अस्मद् युयोतन ॥१०॥
ऋ १०, ६३, १२.

हे देवताओ! शत्रुता को हम से दूर करो।

१७. उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥१९३॥
ऋ १०, १३७, १.

हे देवताओ! क्या हुआ यदि (यह) कोई अपराध कर बैठा है। तुम (इसे) दुबारा जीवन प्रदान करो।

१८. उतेदानीं भगवन्तः स्याम ॥५२॥ अ ३, १६, ४.

हे ऐश्वर्यशालिन् प्रभो ! हम अब भी (और, अन्य समयों में भी) भाग्यशाली हों।

१९. एनो मा निगां कतमच्चनाऽहम् ॥१०१॥

ऋ १०, १२८, ४.

मैं कभी भी संकट में न पड़ूं।

२०. जीवतां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङ् ॥२०८॥ अ ८, २, २.

आ, इधर जीते हुओं के प्रकाश में आ।

२१. ज्योतिः शूर पुरस्कृधि ॥११९॥ अ ८, ५, १७.

हे वीर ! आगे हमें ज्योति प्रदान करो।

२२. त्विषिः······न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥१२५॥

अ ६, ३८, १.

स्वाभाविक शक्ति, तेज-पुञ्ज को साथ लिए हुए, हमें भी आकर कृतार्थ करे।

२३. दक्षश्च मे बलं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥१७७॥

य १८, २.

मेरी क्षमता और मेरा बल यज्ञ के द्वारा समुन्नत हो।

२४. देव सवितः······परा दुःष्वप्न्यं सुव ॥६५॥

ऋ ५, ८२, ४.

हे सवितः देव ! (चिंता से पैदा होने वाली) निद्रा की विकलता हम से दूर रहे।

२५. देव सवितः प्रजावत् सावीः सौभगम् ।।६५।।

ऋ ५, ८२, ४.

हे सवितः देव ! हमें प्रजा दे और (साथ में) ऐश्वर्य (भी) दे।

२६. देवानां सख्यमुपसेदिमा वयम् ।।२।।

ऋ १, ८९, २.

हम ने देवताओं की मित्रता प्राप्त की है।

२७. दैवीं नावम्...आरुहेमा स्वस्तये ।।८।।

ऋ १०, ६३, १०.

आओ, देवताओं की नौका पर चढ़ जाएं, ताकि जीवन सफल हो।

२८. पृथिवि ! यच्छा नः शर्म सप्रथः ।।३०।।

ऋ १, २२, १५.

हे पृथिवी ! तू हमें विशाल मंगल प्रदान कर।

२९. प्रचेतः शुभे सखिभ्यो अमृतत्वमस्तु नः ।।१६५।।

ऋ ७, १०६, १.

हे जाननहार ! हम आप के सखा ही तो हैं। इसलिए, आप का शासन हमारे लिए अवश्य शुभकारी होना चाहिए।

३०. प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय ।।२१७।।

ऋ १०, १८, ३.

आओ, और आगे बढ़ें। आओ, नाचें और हँसें।

३१. प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे ॥४९॥ अ ३, १६, १.
प्रात:काल, हम अग्नि को, प्रातःकाल, हम इन्द्र को भजते हैं।

३२. भगस्य रातिमीमहे ॥६३॥ ऋ ३, ६२, ११.
हम ऐश्वर्य की प्राप्ति करते हैं।

३३. भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः ॥२॥ ऋ १, ८९, ८.
हे देवताओं! हम कानों से भला सुनें।

३४. भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ॥३॥ ऋ १, ८९, ८.
हे पूजनीयो! हम आंखों से भला देखें।

३५. भूतं च मे भूतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥१८९॥
य १८, १४.
मेरा ऐश्वर्य और मेरा वैभव यज्ञ के द्वारा समुन्नत हो।

३६. भूमे! मातर्निधेहि मा ॥३१॥ अ १२, १, ६३.
हे भूमे! तू मेरे प्रति माता के समान हो। मुझे भली प्रकार सुरक्षित रख।

३७. मदेम शतहिमाः सुवीराः ॥५७॥ अ १९, १२, १.
आओ, हम उत्तम बल-युक्त प्रजा-धन के स्वामी बनें और सौ वर्ष तक आनन्दित रहें।

३८. मधु जनिषीय मधु वंशिषीय ॥१४०॥
अ ९, १, १४.
मैं मिठास को पैदा करूं। मैं मिठास को आगे बढ़ाऊं।

३९. मुमाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु ।।१२१।। ऋ १०,१२८,१.

हे अग्नि देव! युद्धों की ललकारों में मेरे अन्दर चमक पैदा हो।

४०. मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ।।८३।। अ १, १, २.

मेरे विद्याभ्यास को मेरे अन्दर खूब प्रतिष्ठा प्राप्त होती रहे।

४१. मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः ।।१२१।।

ऋ १०, १२८, १.

चारों दिशाएं हमारे आगे झुकने वाली हों।

४२. मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिशाम ।।६७।।

अ १९, ५५, १.

हे अग्ने! हम तुम्हारे समीप हैं। हमें कभी कोई कष्ट न हो।

४३. मा नः सेना अररुषीरुपगुः ।।४६।। अ १९, १५, २.

शत्रुता-भाव से भरी सेना हमारे निकट न आए।

४४. मा नो विदद् अभिभा मो अशस्तिः ।।१२४।।

अ ५, ३, ६.

(किसी की भी) शत्रुता और बुरी उक्ति हमारा कुछ न बिगाड़ सके।

४५. मा पुरा जरसो मृथाः ।।१९७।। अ ५, ३०, १७.

बुढ़ापे से पहले तुम मरने के नहीं।

४६. माम्……अग्ने मेधाविनं कुरु ॥९५॥ अ ६, १०८, ४
हे अग्निदेव ! मुझे मेधावी बना दो ।

४७. माम्…अग्ने वर्चस्विनं कुरु ॥१३१॥ अ ३, २२, ३.
हे अग्निदेव ! मुझे महाबली बना दो ।

४८. मा श्रुतेन विराधिषि ॥८५॥ अ १, १, ४.
हम विद्याभ्यास से बिछुड़े नहीं ।

४९. मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात् ॥७४॥ ऋ ७, ५९, १२.
(पूर्ण आयु भोग कर) मैं मृत्युमय जीवन से (बिना कष्ट भोगे) छूट जाऊं (परन्तु) अमृतमय जीवन से (कभी) न (छूटूँ) ।

५०. मेधे…त्वं नो असि यज्ञिया ॥९२॥
अ ६, १०८, १.
हे मेधा देवी ! तुम हमारी पूज्य हो ।

५१. मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥१५४॥ य ३४, १.
मेरा मन अच्छे संकल्प वाला हो ।

५२. मो अहं द्विषते रधम् ॥६०॥ ऋ १, ५०, १३.
मैं शत्रुओं से न दबाया जा सकूं ।

५३. यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं विवृहामि ते ॥२०६॥
ऋ १०, १६३, ६.
मैं रोग को तेरे संपूर्ण शरीर से (ही) निकाल फैंकता हूं ।

५४. यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूंषि कल्पयैषाम् ।।२१८।। ऋ १०, १८, ५.

हे सब को धारण करने वाले (देव)! अपनी कृपा से सब को ऐसा ही जीवन प्रदान करो। कभी कोई छोटी आयु वाला बड़ी आयु वालों के सामने परलोक को न सिधारे।

५५. यदात्मनि तन्वो मे विरिष्टं सरस्वती तद् आपृणद् घृतेन ।।८१।। अ ७, ५७, १.

जो मेरे अन्तरात्मा में घाव हो गया है, सरस्वती उसे अपने स्नेह से भर देवे।

५६. यद् वदामि मधुमत् तद् वदामि ।।१३५।। अ १२, १, ५८.

मैं जो कुछ कहूं, मीठा कहूं।

५७. योगक्षेमो नः कल्पताम् ।।२२३।। य २२, २२.

हमारा सुख-कल्याण (बराबर) बढ़ता रहे।

५८. रथम्...अरिष्यन्तमारुहेमा स्वस्तये ।।१२।। ऋ १०, ६३, १४.

टूट-फूट से बचे रहने वाले रथ पर हम भी आरूढ़ हों और परम सुख को प्राप्त करें।

५९. वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ।।६९।। अ १९, ५५, ३.

(हे अग्ने!) हम तुम्हें प्रदीप्त करते रहें और अपने-आप को पुष्ट करते रहें।

६०. वाचः सत्यम् अशीय ॥१००॥ य ३९, ४.
मेरी वाणी से जो निकले वह सत्य हो।

६१. विश्वा आशा वाजपतिर्जयेयम् ॥१०५॥
य १८, ३३.
हम बलवान् होते हुए सब दिशाओं में अपनी विजय-पताका फहराते रहें।

६२. विश्वानि देव सवितर् दुरितानि परासुव ॥६६॥
ऋ ५, ८२, ५.
हे सवितः देव! सब बुराइयों को दूर भगा दो।

६३. विश्वे यजत्रा अधि वोचतोतये ॥९॥
ऋ १०, ६३, ११.
हे सब पूजा योग्य (देवताओं)! हमें समझाओ ताकि हम अपनी रक्षा कर सकें।

६४. व्यशेम देवहितं यदायुः ॥३॥ ऋ १, ८९, ८.
हमारे शरीर देव-प्रदत्त आयु तक ठीक चलें।

६५. शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः ॥१७॥
ऋ ७, ३५, १०.
हमारे लिए मेघ सुखकारी हों, जिस से हम प्रजावान् बन सकें।

६६. शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः ॥२१६॥
ऋ १०, १८, २.
आओ, शुद्ध पवित्र बनते हुए, यज्ञमय जीवन के योग्य बनते हुए आओ।

६७. सं श्रुतेन गमेमहि ॥८५॥ अ १, १, ४.
हम विद्याभ्यास से जुड़े रहें।

६८. सरस्वति मा ते युयोम संदृशः ॥७८॥
अ ७, ६८, ३.
हे सरस्वति ! हम तेरे उत्तम दर्शन से (कभी) वंचित न हों।

६९. सर्वमेव शमस्तु नः ॥१९॥ अ १९, ९, २.
हमारे लिए सभी कुछ शान्तिकारी हो।

७०. सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥४१॥
अ १९, १५, ६.
सब दिशाएं हमारे प्रति मित्र-भाव से भरी हों।

७१. सर्वैः संस्रावैर् धनं संस्रावयामसि ॥१४७॥
अ १, १५, ३.
धन की सभी धाराओं को मिला कर हम अपनी ओर बहाते हैं।

७२. सर्वो वै तत्र जीवति···यत्रेदं ब्रह्म क्रियते ॥२१९॥
अ ८, २, २५.
जहां इस मन्त्र-पाठ का आदर होता है, (और इस पर आचरण किया जाता है) वहां से मृत्यु भाग जाती है।

७३. आदित्याः···सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये ॥६॥
ऋ १०, ६३, ७.
हे आदित्यो ! हमारे लिए सुपथों का विस्तार करो। उन पर कल्याण-लाभ के लिए हम चल सकें।

७४. सूर्यम् अगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥५८॥

ऋ १, ५०, १०.

सूर्य उत्तम ज्योति है। हम उसे पा रहे हैं।

७५. स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु ॥१३॥

ऋ १०, ६३, १५.

सन्तति-कारक गृह-सम्बन्धों में हमें सुख-लाभ हो।

७६. सा (स्वस्ति) नो अमा सो अरणे नि पातु ॥१४॥

ऋ १०, ६३, १६.

धनवती शुभ स्थिति घर पर और बाहर हमारी रक्षा करे।

वेदसार की वैदिक-स्थल-संकेत-सूची

ऋग्वेद

मंडल	सूक्त	मंत्र		पृष्ठ	मं. सं.	मंडल	सूक्त	मंत्र		पृष्ठ	मं. सं.
१,	३,	१०	:	३८,	७५	४,	५७,	२	:	२०,	३५
१,	३,	११	:	३८,	७६	४,	५७,	३	:	२०,	३६
१,	३,	१२	:	३८,	७७	५,	८२,	१	:	३४,	६४
१,	२२,	१५	:	१६,	३०	५,	८२,	४	:	३४,	६५
१,	२५,	१	:	८२,	१६६	५,	८२,	५	:	३४,	६६
१,	२५,	२	:	८२,	१६७	७,	३५,	८	:	१०,	१६
१,	५०,	१०	:	३०,	५८	७,	३५,	१०	:	१२,	१७
१,	५०,	११	:	३२,	५९	७,	५९,	१२	:	३८,	७४
१,	५०,	१३	:	३२,	६०	७,	८९,	५	:	८२,	१६८
१,	८९,	१	:	४,	१	८,	६७,	२०	:	६,	५
१,	८९,	२	:	४,	२	९,	६७,	२३	:	७४,	१५०
१,	८९,	८	:	४,	३	१०,	९,	१	:	१४,	२२
१,	८९,	९	:	४,	४	१०,	९,	२	:	१४,	२३
१,	९०,	९	:	१०,	१५	१०,	९,	३	:	१४,	२४
१,	१६४,	४९	:	४०,	७९	१०,	९,	४	:	१४,	२५
१,	१८७,	२	:	१८,	३२	१०,	९,	७	:	१६,	२६
१,	१८७,	३	:	१८,	३३	१०,	१७,	७	:	४०,	८०
३,	६२,	१०	:	३२,	६२	१०,	१७,	१०	:	१६,	२८
३,	६२,	११	:	३२,	६३	१०,	१८,	२	:	११०,	२१६
४,	५७,	१	:	१८,	३४	१०,	१८,	३	:	११०,	२१७

मंडल सूक्त मंत्र		पृष्ठ मं. सं.	मंडल सूक्त मंत्र		पृष्ठ मं. सं.
१०, १८, ५	:	११०, २१८	१०, ६३, १६	:	१०, १४
१०, ३५, १३	:	५२, १०३	१०, ८१, ७	:	४२, ८६
१०, ४२, ११	:	६०, १२०	१०, १२८, १	:	६०, १२१
१०, ५७, ४	:	९८, १९५	१०, १२८, २	:	६०, १२२
१०, ६०, ११	:	९८, १९१	१०, १२८, ४	:	५०, १०१
१०, ६०, १२	:	९८, १९२	१०, १३७, १	:	९८, १९३
१०, ६३, ७	:	६, ६	१०, १३७, २	:	९८, १९४
१०, ६३, ८	:	६, ७	१०, १६१, ४	:	१०४, २०४
१०, ६३, १०	:	६, ८	१०, १६१, ५	:	१०४, २०५
१०, ६३, ११	:	८, ९	१०, १६३, ६	:	१०४, २०६
१०, ६३, १२	:	८, १०	१०, १६४, १	:	८४, १७२
१०, ६३, १३	:	८, ११	१०, १६४, २	:	८६, १७३
१०, ६३, १४	:	८, १२	१०, १६४, ३	:	८६, १७४
१०, ६३, १५	:	१०, १३	१०, १७२, १	:	३०, ५६,

यजुर्वेद

अध्याय मंत्र		पृष्ठ मं. सं.	अध्याय मंत्र		पृष्ठ मं. सं.
४, १४,	:	८४, १७०	१८, ६,	:	९०, १८१
११, ८३,	:	२०, ३७	१८, ७,	:	९२, १८२
१८, १,	:	८८, १७६	१८, ८,	:	९२, १८३
१८, २,	:	८८, १७७	१८, ९,	:	९२, १८४
१८, ३,	:	८८, १७८	१८, १०,	:	९४, १८५
१८, ४,	:	९०, १७९	१८, ११;	:	९४, १८६
१८, ५,	:	९०, १८०	१८, १२, :	:	९४, १८७

अध्याय	मंत्र	पृष्ठ	मं. सं.	अध्याय	मंत्र	पृष्ठ	मं. सं.
१८,	१३,	: ९६,	१८८	३४,	५,	: ७८,	१५८
१८,	१४,	: ९६,	१८९	३४,	६,	: ७८,	१५९
१८,	१५,	: ९६,	१९०	३६,	१,	: ४४,	८९
१८,	३०,	: ५०,	१०२	३६,	२,	: ५८,	११७
१८,	३२,	: ५२,	१०४	३६,	१०,	: १२,	२०
१८,	३३,	: ५२,	१०५	३६,	१७,	: १४,	२१
१८,	३४,	: ५२,	१०६	३६,	२१,	: २०,	३८
१८,	३५,	: ५४,	१०७	३६,	२२,	: २२,	३९
१८,	३६,	: ५४,	१०८	३६,	२४,	: ३२,	६१
२२,	२२,	: ११४,	२२३	३८,	२५,	: ५६,	१११
३४,	१,	: ७६,	१५४	३८,	२६,	: ५६,	११२
३४,	२,	: ७६,	१५५	३८,	२७,	: ५६,	११३
३४,	३,	: ७८,	१५६	३९,	४,	: ५०,	१००
३४,	४,	: ७८,	१५७				

सामवेद

आरण्यक	खण्ड	मंत्र	पृष्ठ	मंत्र संख्या
३,	४,	२	१६,	२९
		(६, ४, २)		

अथर्ववेद

काण्ड	सूक्त	मंत्र	पृष्ठ	मं. सं.	काण्ड	सूक्त	मंत्र	पृष्ठ	मं. सं.
१,	१,	१ :	४०,	८२	१,	१,	४ :	४२,	८५
१,	१,	२ :	४२,	८३	१,	६,	४ :	१६,	२७
१,	१,	३ :	४२,	८४	१,	९,	२ :	११२,	२२०

काण्ड	सूक्त	मंत्र	पृष्ठ	मं.सं.
१	१५	१	७२	१४५
१	१५	२	७२	१४६
१	१५	३	७४	१४७
१	१५	४	७४	१४८
२	११	४	११२	२२१
२	११	५	११२	२२२
३	१६	१	२६	४९
३	१६	२	२६	५०
३	१६	३	२८	५१
३	१६	४	२८	५२
३	१६	५	२८	५३
३	१६	६	२८	५४
३	१६	७	३०	५५
३	२२	१	६४	१२९
३	२२	२	६४	१३०
३	२२	३	६६	१३१
३	२२	४	६६	१३२
३	२२	५	६६	१३३
३	२२	६	६६	१३४
५	३	२	६२	१२३
५	३	६	६२	१२४
५	९	७	५४	११०
५	३०	७	१००	१९६
५	३०	१७	१००	१९७
६	१९	१	७६	१५१
६	१९	२	७६	१५२
६	१९	३	७६	१५३
६	३८	१	६२	१२५
६	३८	२	६२	१२६
६	३८	३	६४	१२७
६	३८	४	६४	१२८
६	४०	१	२२	४२
६	४०	२	२४	४३
६	४०	३	२४	४४
६	४१	३	८४	१६९
६	५८	२	६८	१३८
६	५८	३	७०	१३९
६	६९	२	६८	१३६
६	६९	३	६८	१३७
६	१०८	१	४६	९२
६	१०८	२	४६	९३
६	१०८	३	४६	९४
६	१०८	४	४८	९५
६	१०८	५	४८	९६
६	११४	१	८०	१६०
६	११४	२	८०	१६१
६	११५	१	८०	१६२

काण्ड	सूक्त	मंत्र		पृष्ठ	मं. सं.	काण्ड	सूक्त	मंत्र		पृष्ठ	मं.सं.
६,	११५,	२	:	८०,	१६३	८,	५,	१७	:	६०,	११९
६,	११५,	३	:	८२.	१६४	८,	५,	१८	:	५८,	११८
७,	५३,	२	:	१००,	१९८	९,	१,	१४	:	७०,	१४०
७,	५३,	३	:	१००,	१९९	९.	१,	१५	:	७०,	१४१
७,	५३,	४	:	१०२,	२००	९,	१,	१६	:	७०,	१४२
७,	५३,	५	:	१०२,	२०१	९,	१,	१७	:	७२,	१४३
७,	५३,	६	:	१०२,	२०२	९,	१,	१८	:	७२,	१४४
७,	५७,	१	:	४०,	८१	१२,	१,	५३	:	४८,	९७
७,	६१,	१	:	४४,	८७	१२,	१,	५८	:	६८,	१३५
७,	६१.	२	:	४४,	८८	१२,	१,	६३	:	१८,	३१
७,	६६,	१	:	४४,	९०	१९,	१,	३	:	७४,	१४९
७,	६७,	१	:	४६,	९१	१९,	४,	२	:	४८,	९८
७,	६८,	३	:	३८,	७८	१९,	४,	३	:	५०,	९९
७,	१००,	१	:	८४,	१७१	१९,	९,	१	:	१२,	१८
७,	१०६,	१	:	८२,	१६५	१९,	९,	२	:	६२,	१९
८,	१,	२१	:	१०२,	२०३	१९,	१२,	१	:	३०,	५७
८,	२,	१	:	१०४,	२०७	१९,	१५,	१	:	२४,	४५
८,	२,	२	:	१०६,	२०८	१९,	१५,	२	:	२४,	४६
८,	२,	३	:	१०६,	२०९	१९,	१५,	३	:	२६,	४७
८,	२,	५	:	१०६,	२१०	१९,	१५,	४	:	२६,	४८
८,	२,	८	:	१०६,	२११	१९,	१५,	५	:	२२,	४०
८,	२,	१४	:	१०८,	२१२	१९,	१५,	६	:	२२,	४१
८,	२,	१५	:	१०८,	२१३	१९,	३७,	१	:	५४,	१०९
८,	२,	१९	:	१०८,	२१४	१९,	५१,	१	:	५६,	११४
८,	२,	२२	:	१०८,	२१५	१९,	५५,	१	:	३४.	६७
८,	२,	२५	:	११०,	२१९	१९,	५५,	२	:	३४,	६८

काण्ड सूक्त मंत्र	पृष्ठ मं. सं.	काण्ड सूक्त मंत्र	पृष्ठ मं. सं.
१९, ५५, ३ :	३६, ६९	१९, ५५, ७ :	३६, ७३
१९, ५५, ४ :	३६, ७०	१९, ६०, १ :	५८, ११५
१९, ५५, ५ :	३६, ७१	१९, ६०, २ :	५८, ११६
१९, ५५, ६ :	३६, ७२	१९; ६३, १ :	८६, १७५

परिशिष्ट—१

वैदिक व्याकरण, स्वर, पदपाठ तथा छन्द

कुछ आवश्यक संकेत

(क) **वर्णमाला**—लौकिक संस्कृत में पाये जाने वाले सभी स्वर और व्यञ्जन वैदिक संस्कृत में भी पाये जाते हैं। परन्तु उन के अतिरिक्त, ऋग्वेद में जब 'ड्' तथा 'ढ्' दो स्वरों के मध्य में आते हैं, तो उन के स्थान पर क्रमशः 'ळ्' तथा 'ळ्ह्' हो जाते हैं—यथा (ईडे>) ईळे (साढा>) साळ्हा, अन्यथा वे 'ड्' तथा 'ढ्' ही रहते हैं, यथा — वीड्वङ्गः, मीढ्वान्। 'ळ्' और 'ळ्ह्' का उच्चारण, क्रमशः, हिंदी के 'ड़्' और 'ढ़्' से मिलता-जुलता होता था।

(ख) **संधि**—वेद में संधि कम होती थी, विशेषतः, विभिन्न पदों और पादों के मध्य में। उपलब्ध पाठों के अनेक संधि-स्थल मूलतः असंहित रहे होंगे, ऐसा छन्दोविमर्श के आधार पर कहा जा सकता है‡। वैदिक संधि के बारे में उत्तरोक्त संकेत ध्यान-योग्य हैं :—

(१) 'ए' और 'ओ' से परवर्ती 'अ' उच्चरित होता रहता था, तु. ते अग्ने, सो अरणे; वैतु. मेऽपानः, अयुतोऽहम्।

(२) 'ओ' तथा 'औ' को 'उ' अथवा 'ऊ' परे होने पर क्रमशः 'अ (<अव्)' और 'आ (<आव्)' होते हैं, अन्यथा

---

‡जैसे मुद्रित ग्रन्थों का पाठ सूनवे अग्ने के स्थान पर °वेऽग्ने (ऋ १, १, ९) छन्द की दृष्टि से ठीक नहीं है।

'अव्' और 'आव्' ही होते हैं, तु. वाय उक्थेभिः, सुजिह्वा उप, होतारा ऊर्ध्वम् ; वैतु. वायो आ>वायव् आ, तौ आ>ताव आ ।

(३) 'ऐ' के सन्धिज रूप 'आ' के साथ, परवर्ती स्वर की कभी२ सन्धि हो जाती है, तु. (सुतवै आजौ>) सुतवा आजौ>सुतवाजौ ।

(४) पदान्त में 'न्' तथा उपधा में 'आ' हो तो 'न्' को अनुस्वार (चन्द्रबिन्दु) हो जाता है, तु. जनान् अनु> जनाँ अनु । 'ई', 'ऊ', 'ऋ' के उपधा में रहते साथ साथ 'र्' का भी उदय होता है, तु. परिधीन् अति> परिधीँर् अति, अभीशून् इव>अभीशूँर् इव, नॄन् अभि> नॄँर् अभि ।

(५) 'ऋ', 'र्' अथवा 'ष्' से परे 'न्' को 'ण्' हो जाता है। स्वर, कवर्ग, पवर्ग अथवा य्, व्, ह् का व्यवधान होने पर भी यह नियम लागू होता है, तु. ब्रह्मन्-वतीम्>ब्रह्मण्-वतीम्, पितृयानम्> पितृयाणम्, प्र नपात्>प्र णपात्, उरु नः> उरु णः ।

(६) 'अ', 'आ' से भिन्न स्वर अथवा 'क्', 'र्' और 'ष्' से परवर्ती होता हुआ जब 'स्' पदान्त में आवे अथवा पदान्तवत् समझा जावे, तथा उस से परे 'स्', 'त्' 'थ्', 'न्', 'भ्', 'य' मथवा 'व्' आवें, तो उस 'स्' को 'ष्' हो जाता है, तु. गोसखि> गोषखि, द्यौस्त्वा> द्यौष्ट्वा, स्वर् साति> स्वर्षाति, हि स्थाः>हि ष्ठाः, ज्योति (स्>) ष्+भ्याम्>°ति (ड्>) र्-भ्याम्, दु (स्>) ष्+डभः>दुड्*-डभः >दूड (ळ) भः ।

(ग) **सुबन्त**—जैसा कि उत्तरोक्त उदाहरणों से संकेतित होता है, सभी विभक्तियों और वचनों में सभी लिङ्गों के शब्दों के कुछ-कुछ वैकल्पिक और विलक्षण रूप भी वेद में पाये जाते हैं :—

(१) प्र२ व द्वि२ —देवौ व देवा, पितरौ व पितरा, श्वानौ व श्वाना, गावौ व गावा ;

(२) प्र३ — देवाः व देवासः, देव्यः व देवीः, (अरि->) अरयः व अर्यः;

(३) न. प्र३ व द्वि३ —दुरितानि व दुरिता, कानि व का, वसू व वसु व वसूनि, मधु व मधू व मधूनि ;

(४) तृ१ —प्रियया व प्रिया, गत्या व गती, ऊत्या व ऊती, यज्ञेन व यज्ञा, भूमना व भूना व भूम्ना ;

(५) तृ३ —देवैः व देवेभिः ;

(६) स१ —ऊत्याम् व ऊती, तन्वाम् व तनू व तन्वि ;

(७) स१ —अग्नौ व अग्ना, ब्रह्मणि व ब्रह्मन्, मूर्ध्नि व मूर्धनि व मूर्धन् ;

(८) सं१ —भगवन् व भगवः ;

(९) (अप्-'जल'>) प्र२ —आपा, द्वि३ —आपः, द्वि ३, पं१ व ष१ अपः;

(१०) (पथिन्-'मार्ग'>) प्र३ व द्वि३ —पन्थाः, द्वि१ पन्थाम् ;

(११) (पूषन्-'देवता') द्वि१—पूषणम् व पूषाणम् ;

(पै० १२, ७, ७) ।

(१२) (युष्मद्->) प्र२ युवम् व युवाम्, द्वि३ युष्मा: व युष्मान्, तृ१ त्वा व त्वया, तृ२ युवभ्याम् व युवाभ्याम्, च१ तुभ्य व तुभ्यम्, पं२ युवत् व युष्मत्, ष२ युवो: व युवयो:, स१ त्वे व त्वयि, स३ युष्मे ;

(१३) (अस्मद्->) प्र२ वाम् व आवम् व आवाम्, च१ मह्य व मह्यम्, च३ व स३ अस्मे, पं२ आवत् व आवाभ्याम्, स१ मे व मयि ;

(१४) (इदम्->) तृ१ अया व अनया, च१ इमस्मै व अस्मै, पं१ आत् व अस्मात्, ष१ इमस्य व अस्य, ष२ व स२ अयो: व अनयो: ;

(१५) (एतद्->) तृ१ एना व एनेन, ष२ व स२ एनो: व एनयो: ।

(१६) (तद्->) पं१ तात् व सस्मात् व तस्मात्, स१ सस्मिन् व तस्मिन् ।

(घ) तिङन्त—

(१) वेद में लिङ् व लोट् के प्रार्थना, प्रेरणा, संभावना आदि अर्थों को ही प्रकट करने के लिए लेट् लकार प्राय: प्रयुक्त होता है। इसके भवति, भवाति, ईङ्ख्यातै, कृणवै, जुजोषथ:; करिष्या:; भवत्, भवात्; तारिषत् तारिषात्, आदि रूपों में लट्, लृट्, लङ् अथवा लुङ् लकारों के समान यथा-युक्त तिङ्—प्रत्ययों से पूर्ववर्ती धातु-निष्पन्न अङ्ग के अन्त में अकार अथवा आकार रहता
: ।

(२) लङ् तथा लुङ् के रूपों के आरम्भ में जुड़ने वाले 'अ' या 'आ' का प्रयोग कभी-कभी नहीं भी होता, कभी-कभी उक्त 'अ' के स्थान पर 'आ' भी प्रयुक्त होता है, तु. गमत्, (√रिच्>) आरैक्, (√वृ>अवः>) आवः।

(३) उ३ के 'मः' के स्थान पर 'मसि' (तु. भवामसि तथा) म३ के 'त' अथवा 'थ' के स्थान पर क्रमशः 'तन' या 'तात्' या 'थन' भी प्रयुक्त होते हैं, तु. इतन, कृणोतन, कृणुतात्, इथन।

(४) प्र३ के 'अते' व 'अन्ते' के स्थान पर 'ए' भी प्रयुक्त होता है; तु. शयन्ते व शेरते व शेरे।

(५) प्र१ के 'ते' के स्थान पर 'ए' भी प्रयुक्त होता है; तु. शेते व शये।

(६) लोट् म३ के 'ध्वम्' के स्थान पर 'ध्वात्' भी प्रयुक्त होता है; तु. वारयध्वात्।

(७) वेद में एक ही धातु के तिङन्त रूप विभिन्न गणों, तु. कर्षि (अदादि), कृणोषि (स्वादि), करोमि (तनादि), तथा विभिन्न पदों (आत्मनेपद व परस्मैपद) में प्रयुक्त पाये जाते हैं; तु. वर्धन्त, वर्धन्ते, शेते, अशयत् प्रभृ.।

(ङ) कृत्-प्रत्यय—

(१) भाव अथवा कर्म में प्रयुक्त होने वाले कृत्य प्रत्ययों 'अनीय', 'तव्य' तथा 'य' के अतिरिक्त वेद में 'आय्य',

'एन्य' तथा 'त्व' प्रत्ययों का प्रयोग भी होता है, तु. पनाय्य, वरेण्य, स्नात्व।

(२) 'क्त्वा' के विकल्प के रूप में 'क्त्वाय' तथा क्त्वी' प्रत्यय भी उपलब्ध होते हैं, तु. गत्वा, गत्वाय, गत्वी।

(३) 'तुम्' प्रत्यय के विकल्प के रूप में 'असे', 'ए', 'तवे', 'तवै', 'अध्यै' आदि प्रत्यय भी होते हैं, तु. चक्षसे, जीवसे ; दृशे, भुवे ; कर्तवे ; सन्तवे ; कर्तवै सन्तवै ; चरध्यै आदि।

(४) 'तुम्' प्रत्यय के अर्थ में 'अम्' व अस्(:)' व 'तोस्(:)' प्रत्ययों का भी प्रयोग होता है, तु. आरभम्, विलिखः, गन्तोः।

(च) उपसर्ग—

वेद में उपसर्ग क्रियापद से पूर्व तो लगता ही है, उत्तरवर्ती एवं व्यवहित होकर भी लगता है, तु. याति नि, उप······ ह्वयताम्।

(छ) निपात—

(१) लोक-प्रसिद्ध निपातों के अतिरिक्त वेद में 'आत्', 'ईम्', 'कम्', 'नकिः', 'माकिः', 'याद्', 'सीम्', 'स्विद्', आदि कुछ और निपात भी मिलते हैं।

(२) 'न' निषेधार्थक होने के अतिरिक्त वेद में उपमार्थक भी होता है। यह निषेध्य-परक शब्द से पूर्व प्रयोग होने पर निषेधार्थक तथा उपमान-परक शब्द के पीछे आने पर

उपमार्थक होता है, तु. (क्रमशः) नेन्द्रं देवम् अमंसत, पक्वा शाखा न।

(ज) वैदिक स्वर—

वैदिक भाषा का उच्चारण अक्षरों के गान-प्रकारक उतार-चढ़ाव (लय) के साथ होता था। उतार वाला उच्चारण (स्वर) **अनुदात्त** और चढ़ाव वाला उच्चारण (स्वर) **उदात्त** कहलाता था। इन दोनों स्वरों वाले अक्षरों के संधान अथवा सान्निध्य होने से इन दोनों से पृथक् प्रकार का तीसरा स्वर पैदा होता था, जिसे **स्वरित** कहा जाता था। वह उदात्त से भी तनिक अधिक चढ़ाव के साथ आरम्भ होकर अनुदात्त के स्तर पर उतर जाता था। (उक्त संधान तथा सांनिध्य का फल-स्वरूप यह स्वरित स्वर क्रमशः दो प्रकार हो जाता था, स्वतन्त्र और परतन्त्र।) **उदात्त** और **अनुदात्त** का संधान कई प्रकार का हो जाने के कारण स्वतन्त्र **स्वरित** के कई भेद हो जाते थे। जब **अनुदात्त** स्वर **उदात्त** स्वर के पीछे उस से सटा हुआ परन्तु उससे असंहित रहता हुआ आता था, तो वह **स्वरित** बन कर उच्चारित तो होता था, परन्तु **उदात्त** का छायारूप होने के कारण परतन्त्र रहता था। वह स्वतन्त्र रूप से किसी अक्षर का स्वर नहीं बन सकता था। इस प्रकार, चढ़ाव से विशिष्ट होने के कारण उदात्त और स्वतन्त्र स्वरित ही दो मुख्य स्वर होते थे। एक पद में एक अक्षर हो अथवा अनेक अक्षर हों, उस का एक समय में कोई-सा एक एक अक्षर ही **उदात्त** अथवा स्वतन्त्र **स्वरित** हो सकता था। उसमें यदि उस एक अक्षर के अतिरिक्त एक या अधिक और भी **अक्षर** हों तो वे सब **अनुदात्त** ही रहते थे। कुछ थोड़े-से ऐसे पद भी थे, जो किन्हीं विशेष भाषिक कारणों से **सर्वानुदात्त** ही रहते थे, अथवा जिनके अनेक अक्षरों में से दो या दो से अधिक अक्षर **उदात्त** भी पढ़े जाते थे। सर्वानुदात्त पद

दो प्रकार के होते हैं :—

(१) नित्य अनुदात्त, जैसे—'मा', 'मे', 'नौ', 'नः'; 'त्वा', 'ते', वाम्', 'वः', 'इव', 'ईम्', 'च', 'वा', 'इव', 'उ', 'घ', 'ह', चिद्', 'सीम्', 'स्म', 'स्विद्'।

(२) अवस्था-विशेष में सर्वानुदात्त, जैसे-(i) 'इदम्' तथा 'एनद्' के रूप यदि विशेष बल देने के लिए प्रयुक्त न हों, तथा अपने विशेष्य पद के साथ प्रयुक्त न हों। तु. अस्य जनिमानि, एनं सृजत ; वैतु. अस्या उषसः, एना सख्या; (ii) 'कम्' केवल 'नु', 'सु', 'हि' के पश्चात् आने पर ही; (iii) 'यथा' इव के अर्थ में तथा पाद के अन्त में होने पर, तु. तायवो यथा; (iv) सम्बोधन पद पाद के प्रारम्भ में न हो तो, तु. त आदित्याः; वैतु. आदित्याः कृत्रिमा शरुः; (v) प्रधान वाक्य की क्रिया पाद या वाक्य के मध्य या अन्त में होने पर, तु. आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः; वैतु. रक्षन्ति तं पणयः।

(३) द्व्युदात्त या बहूदात्त पद, जसे—(i) देवताद्वन्द्व समास में दोनों या तीनों पदों का प्रकृतिस्वर, तु. मित्रावरुणा, इन्द्राबृहस्पति; (ii) वनस्पत्यादिगण के पद तथा जिस समास का पूर्वपद षष्ठी विभक्ति में हो, तु. बृहस्पति, अपांनपात् , शुनःशेप; (iii) तवै-प्रत्ययान्त कृत्; तु. एतवै, गन्तवै, तथा निपात वाव।

इस प्रकरण में प्रयुक्त 'अक्षर' शब्द एकाच् का पर्याय है, जो चार प्रकार का होता है—(१) केवल एक अच् (स्वर) के रूप में (तु. आ),

(२) हल्-पुरोगत एक अच् के रूप में (तु. चु), (३) हल्-अनुगत एक अच् के रूप में (तु. उत्) और (४) हल् पुरोगतानुगत एक् अच् के रूप में (तु. वृत्)। यही अक्षर 'उदात्त', 'अनुदात्त', अथवा 'स्वरित' स्वर का विषय होता है।

वैदिक युग की अन्तिम शतियों में 'उदात्त' आदि स्वर-भेद से मुक्त उच्चारण का विकास हुआ। फलतः, तत्कालीन पठित वर्ग दो प्रकार का उच्चारण करते थे, (१) वैदिक ऋचाओं आदि का तो उदात्त आदि स्वरों के सहित, और (२) व्यावहारिक 'भाषा' का उन स्वरों से विलक्षण सामान्य 'एक-श्रुति' स्वर के सहित। ज्यों-ज्यों समय निकलता गया, त्यों-त्यों वेद-पाठ के उक्त स्वरों को अभ्यस्त रखने के लिए उन्हें घोरातिघोर परिश्रम करना पड़ा, जिसे उन्होंने श्रद्धापूर्वक जी-जान से किया। वे जब वेद-पाठ करते थे, तो विशेष प्रक्रिया के अधीन अपना दक्षिण हाथ हिला-हिला कर 'उदात्त' आदि स्वरों का सूक्ष्म विवेक से स्मरण करते हुए पढ़ते चले जाते थे। धीरे-धीरे जब वेदों को लेख-बद्ध करने की प्रथा चल पड़ी, तो रेखाओं, संख्याओं तथा अन्य कई-एक विशेष चिन्हों द्वारा 'उदात्त' आदि स्वरों का प्रदर्शन किया जाने लगा। इस प्रकार 'स्वरांकन' के विविध प्रकार प्रचलित हुए, जिन में से कुछ-एक ही अब देखने में आते हैं, शेष अपने आधार-भूत असंख्य वैदिक ग्रन्थों के साथ ही लुप्त हो चुके हैं।

इस समय जो संहिताओं और ब्राह्मणों के ग्रन्थ मिलते हैं, उनमें 'स्वरांकन' के मुख्यतः उत्तरोक्त प्रकार पाये जाते हैं।

(१) उदात्त तथा उसके पूर्ववर्ती एवं उत्तरवर्ती अक्षरों के स्वरांकन प्रकार—

(i) ऋग्वेद, अथर्ववेद (शौनक), तथा यजुर्वेद, (तैत्तिरीय, माध्यन्दिन और काण्व) में 'उदात्त' को अचिह्नित रख कर

उससे पूर्ववर्त्ती 'अनुदात्त' अक्षर के नीचे पड़ी रेखा और उस से उत्तरवर्ती 'छाया-स्वरित' के रूप में परिणत हो रहे 'अनुदात्त' अक्षर के ऊपर खड़ी रेखा लगाई जाती है, तु. अ॒ग्निना॑ ।

(ii) यजुर्वेद (काठक तथा मैत्रायण) तथा पैप्पलाद में 'उदात्त' अक्षर के ऊपर खड़ी रेखा दी जाती है, काठक में 'अनुदात्त' तथा 'छाया-स्वरित' अक्षरों को अचिन्हित छोड़ा जाता है (तु. अग्निना) । परन्तु मैत्रायण तथा पैप्पलाद में दोनों को चिन्हित किया जाता है, तु. क्रमशः अ॒ग्निना, अग्निना ।

(iii) शतपथ ब्राह्मण में 'उदात्त' अक्षर के नीचे पड़ी रेखा दी जाती है और दूसरे उक्त दोनों स्वर अचिन्हित रहते हैं, तु. अग्नि॒ना ।

(iv) सामवेद (कौथुम) में 'उदात्त' अक्षर के ऊपर १, उस से पूर्ववर्ती 'अनुदात्त' अक्षर पर ३ और उस से उत्तरवर्ती 'छाया-स्वरित' अक्षर पर २ के अंक दिये जाते हैं, तु. अ॒ग्नि॑ना॒ ।

(२) स्वतन्त्र स्वरित के अनन्तर—परवर्ती अनुदात्त होने पर स्वतन्त्र स्वरित को प्रदर्शित करने के प्रकार—

(i) ऋग्वेद, तैत्तिरीय संहिता तथा काण्व संहिता (माध्यन्दिन) में संबन्धित अक्षर के ऊपर ऊर्ध्व रेखा तथा पूर्ववर्ती अक्षर के नीचे अनुदात्त की रेखा दी जाती है, तु. वी॒र्यं॑ चकर्थ ;

(ii) यजुर्वेद में ऊर्ध्व रेखा के स्थान पर अक्षर के नीचे ∟ चिह्न दिया जाता है, तु. वी॒र्यं चकर्थ ;

(iii) मैत्रायणी संहिता में भी यजुर्वेद से मिलता-जुलता ही ∟ चिह्न श्रोडर-संस्करण में तथा ∟ सातवलेकर संस्करण में यजुर्वेद के समान पाया जाता है, तु. व्रीहि तथा व्रीहि ;

(iv) अथर्ववेद में प्रकृत स्वरित के अनन्तर / चिह्न दिया जाता है. तु. न्य/ग् भवतु ;

(v) सामवेद में प्रकृत स्वरित को २र और अनन्तर पूर्ववर्ती अनुदात को ३क से चिह्नित किया जाता है, तु. अभ्येति ;

(vi) शतपथ ब्राह्मण में स्वतन्त्र स्वरित अनन्तर-पूर्ववर्ती अक्षर के नीचे पड़ी रेखा से समझा जाता है, तु. कन्या। इसी को वेबर संस्करण में उदात्त से भेद प्रकट करने के लिए = रेखा से चिह्नित किया जाता है, तु. कन्या।

(३) स्वतन्त्र स्वरित से अनन्तर—परवर्ती उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित परे होने पर स्वतन्त्र स्वरित के अंकन-प्रकार में उत्तरोक्त कुछ-एक विशेषतायें हैं। इस प्रकार के स्वरित को किन्हीं प्रातिशाख्यों में कम्पस्वर के नाम से कहा है—

(i) ऋग्वेद में ह्रस्व स्वतन्त्र स्वरित के अनन्तर १ चिह्न तथा दीर्घ के अनन्तर ३ चिह्न दिया जाता है, तु. क्रमशः (उदात्त परे) अप्स्व१न्तः; रायो३वनिः; (स्वरित परे) यो३ह्यः (<यः+अह्यः); परन्तु अथर्ववेद में १ के स्थान पर १ तथा अन्तर पूर्ववर्ती अक्षर पर खड़ी रेखा तु. (अप्स्वं१न्तः) केवलमात्र भेद है ;

(iii) यजुर्वेद माध्यन्दिन तथा काण्व शाखा में स्वतन्त्र स्वरित को क्रमशः प्रकृत अक्षर के नीचे ‿ चिह्न तथा पड़ी रेखा से दर्शाया जाता है, तु. असुर्या नाम, असुर्या नाम ;

(iii) मैत्रायणी संहिता में स्वतन्त्र स्वरित वर्ण से अनन्तर-पूर्व ३अंक दिया जाता है, तु. ३ह्यग्निः ;

(iv) सामवेद में स्वतन्त्र स्वरित के अनन्तर ३ अंक और उपर (मूर्धा में) २ अंक दिया जाता है, तु. न्यें३त्रिणम् ।

इस वेद-सार ग्रन्थ में दोनों 'अनुदात्त' और 'छाया-स्वरित' अक्षरों को अचिह्नित छोड़ कर प्रत्येक पद का केवल एक मुख्य स्वर ही प्रदर्शित किया गया है, यदि वह 'उदात्त' है, तो संबन्धित अक्षर के नीचे पड़ी रेखा द्वारा और यदि वह 'स्वतन्त्र स्वरित' है, तो संबन्धित अक्षर के ऊपर खड़ी रेखा द्वारा, तु. यज्ञ, अग्निना, कन्या ।

वैदिक स्वरों का बोध वेदार्थ समझने में बड़ा उपयोगी होता है। अनेक ऐसे पद हैं जो स्वर-भेद के कारण भिन्न-भिन्न अर्थों को कहते हैं, तु. यशस्— 'कीर्ति'; यशस्— 'कीर्तिमान्'; एवं राज-पुत्र— 'राजा का पुत्र', राजपुत्र—'राजा का पिता'।

(झ) पद-पाठ—

एक-एक मन्त्र में कई-कई पद होते हैं। संहिता-पाठ में उन्हें परस्पर संहित करके पढ़ा जाता है। इस कारण साथ-साथ आने वाले पदों के आदिम तथा अन्तिम अक्षरों के स्वर प्रायः विपरिणत हो जाते हैं। पद-पाठ में मन्त्रस्थ प्रत्येक पद को

पृथक् पढ़ा जाता है। इस कारण उसका अपना वास्तविक स्वर स्पष्ट रूप से सामने आ जाता है, तु. (ऋग्वेदीय स्वराङ्कन की पद्धति के अनुसार संहिता-पाठ में) अ॒ग्निमी॑ळे और (उसी पद्धति के अनुसार पद-पाठ में) अ॒ग्निम्। ई॒ळे। संहिता-पाठ में भी असंहित ही रहने वाले प्रगृह्य-संज्ञक ईकारान्त, ऊकारान्त, एकारान्त तथा ओकारान्त (अ॒ग्नी, वि॒ष्णू , फु॒ले, आ॒हो प्रभृति) पदों एवं रेफजन्य विसर्गान्त (अकः प्रभृति) पदों के आगे 'इति' पढ़ कर पद-पाठ उनकी विलक्षणता को विशेषत. प्रकट करता है। इसी प्रकार वह (प्र-ज्ञा, प्रजा-पतिः, प्रजापति-सृष्टः प्रभृति) समस्त पदों के अवयवों को अवगृहीत अर्थात् पृथक्-पृथक् करके पढ़ता है। पृथक् पदों की अन्तर्वर्ती प्रकृतियों और कुछ-एक प्रत्ययों को भी वह अवगृहीत कर देता है, तु. म॒धु-मान्, देव-त्व॒म् , ह॒रि-भ्याम् , अप्-सु॒ प्रभृति।

(ञ) छन्द—

वेद-मन्त्र पर्याप्त संख्या में पाये जाने वाले विभिन्न छन्दों में प्रकट हुए हैं। इनमें से सात मुख्य छन्दों की इनके पादों तथा अक्षरों की विहित संख्या पर आश्रित तालिका इस प्रकार बनती है—

१.	गायत्री	२४	अक्षर	३	पाद	(८+८+८)
२.	उष्णिह्	२८	,,	३	,,	(८+८+१२)
३.	अनुष्टुभ्	३२	,,	४	,,	(८+८+८+८)
४.	बृहती	३६	,,	४	,,	(८+८+१२+८)
५.	पंक्ति	४०	,,	५	,,	(८+८+८+८+८)
६.	त्रिष्टुभ्	४४	,,	४	,,	(११+११+११+११)
७.	जगती	४८	,,	४	,,	(१२+१२+१२+१२)

इन में से संख्या १, ३, ४, ६ व ७ के उदाहरण **वेद-सार** के संख्या ५, ४४, १००, ४ व २ के मन्त्रों में क्रमश: पाये जाते हैं।

वेद में अक्षरीय छन्द ही मिलते हैं। मात्रीय छन्दों का प्रचार अभी नहीं हो पाया था। प्रत्येक छन्द का पाद उक्त-प्रकारक निश्चित अक्षर-संख्या पर आधारित रहता था। फिर भी, प्रमुख छन्दों में पाद के अन्तिम चार अक्षरों की मात्रा, अर्थात् उनकी गुरुता-लघुता का भी ध्यान रखा जाता था। इसलिए जहां गायत्री, अनुष्टुभ् और जगती छन्दों के प्रत्येक पाद के अन्तिम चार अक्षरों का माप ˘ – ˘ – है, वहां त्रिष्टुभ् छन्द के पाद का अवसान-माप – ˘ – – होता था।

वेद-मन्त्रों का प्राथमिक प्रकाश जिस सुदूरवर्ती युग में हुआ था, ऐसा प्रतीत होता है कि उस में वैदिक छन्दों के पाद अक्षर-संख्याओं तथा अवसान-मात्राओं, दोनों की दृष्टि से ठीक नपे-तुले थे। काल-क्रम से, एक ओर तो, वाचनिक विकार के, और दूसरी ओर, अन्तः-पद और अन्तः-पाद वर्ण-सन्धि की उत्तरोत्तर बढ़ती चली गई हुई प्रवृत्ति के फल-स्वरूप वेद-मन्त्रों की अक्षर-संख्या संकुचित सी होती चली गई। प्राचीन अनुक्रमणीकारों ने इस प्रकार से हुई एक अक्षर अथवा दो अक्षरों की न्यूनता को क्रमश: 'निचृत्' और 'विराज्' की संज्ञा दी। इस प्रकार, जिस गायत्री छन्द वाले मन्त्र की कुल अक्षर-संख्या २३ बनी, उसे 'निचृद्-गायत्री' और जिसकी २२ बनी, उसे 'विराड्-गायत्री' कहा गया। इसी प्रकार से अन्य छन्दों की अक्षर-न्यूनता के बारे में भी अंकित किया गया।

उन लक्षणकारों ने इस से विपरीत दशा भी देखी, जिस में उन्हें विभिन्न छन्दों की अक्षर-संख्या में एक अक्षर या दो अक्षरों

की अधिकता का भान हुआ, उसे उन्होंने क्रमशः 'भूरिज्' और 'स्वराज्' की संज्ञा दी। परन्तु ऐसा लगता है कि आलोचनात्मक अध्ययन के उपरान्त ऐसे मन्त्र संभवतः निकल ही न सकें, जिन में वस्तुतः अक्षर-वृद्धि ही हुई हो। हो सकता है कि अनुक्रमणी में जिस मन्त्र को उदाहरणतः, 'भूरिज्' या 'स्वराज्' गायत्री कहा हो, वह वस्तुतः 'निचृत्' या 'विराज्' उष्णिह् ही हो। अतः, यह अत्यन्त अपेक्षित है कि एक-एक मन्त्र की ठीक-ठीक छान्दस स्थिति को समझने के लिए उस के एक-एक पद के प्रामाणिक पाठ की वैज्ञानिक ढंग से पूरी-पूरी व्यवस्था की जाये। वस्तुतः छन्दो-मीमांसा और पाठ-मीमांसा के दोनों विज्ञान एक-दूसरे के परम-सहायक विज्ञान हैं।

परिशिष्ट (२)

विशिष्ट-पद—कोष

(वैयाकरण-टिप्पण-युत)

अकरम् [१६३]—क्रि., <√कृ 'करणे', लङ् उ१ ।

***अकवे** [३१]—अ-कवा- , वि. (विशाल ⌊भूमि⌋), *अ-खर्वा- >(वावि.) यनि., (वैतु. पपा. कवे [सं१] पदविभाग) ।

अक्षभिः [३]—अक्षन्- , ना. (नेत्र), तृ३ । वेद में अक्ष्-(तु. अनक्ष्-), *अक्ष-, अक्षि-, अक्षी- तथा अक्षन्- शब्दों के रूप मिलते हैं ।

अक्षितम् [११२]—अ-क्षित-, वि. (ग्रह), <अ(न) + (√क्षि 'क्षये' >) क्षित, तस. ।

अगन्म [५८]—उद्... अगन्म,

संकेतों व संक्षेपों की तालिका

*	=	उपकल्पित
√	=	धातु का निर्देशक
>	=	परिवर्तन (पूर्ववर्ती का (उत्तरवर्ती के रूप में)
<	=	परिवर्तन (उत्तरवर्ती का पूर्ववर्ती के रूप में)
१, २, ३	=	(क्रमशः) एकवचन, द्विवचन, बहुवचन
[संख्या]	=	संग्रह की मंत्र-संख्या
अव्य.	=	अव्यय
अस.	=	अव्ययीभावसमास
आ.	=	आत्मनेपद
आलि.	=	आशीर्लिङ
उ.	=	उत्तमपुरुष
उस.	=	उपपदसमास
कप्र.	=	कर्मप्रवचनीय
कवा.	=	कर्मवाच्य
क्रि.	=	क्रियापद

क्रि., <√गम् 'गतौ', लुङ् उ३ ।

अघायतः [१०]—अघायत्-, ना. (शत्रु), <√अघाय नाधा. (<• अघ ⌊हिंसा⌋), शतृ द्वि३ ।

अघायोः [१२०]—अघायु-, ना. (शत्रु), <√अघाय, पं१ ।

अङ्क्तम् [१३६]–क्रि., <√अञ्ज् '*भरणे', लोट् म२ ।

अजिरम् [१५९]—अजिर-, वि. (यद् ⌊मन⌋), <√अज् 'गतौ'। अर्थ में अ-जिर ⌊जरारहित⌋ यह शोध्य है ।

क्रिवि.	=	क्रियाविशेषण
गस.	=	गतिसमास
च.	=	चतुर्थी विभक्ति
तस.	=	तत्पुरुषसमास
तु.	=	तुलनीय
तृस.	=	तृतीयासमास
द्वि.	=	द्वितीया विभक्ति
न.	=	नपुंसकलिङ्ग
ना.	=	नामपद
नाधा.	=	नामधातु
नि.	=	निपात
पं.	=	पंचमी विभक्ति
पपा.	=	पदपाठ
पुं	=	पुंलिङ्ग
प्र.	=	प्रथमा विभक्ति (प्रातिपदिक के साथ)
,,	=	प्रथमपुरुष (क्रि के साथ)
,,	=	प्रत्यय (धातु के साथ)
बस.	=	बहुव्रीहिसमास
भा.	=	भावपद
म.	=	मध्यम पुरुष
वेंक.	=	वेंकट माधव (ऋ.)
यनि.	=	यथानिर्दिष्ट
वावि.	=	वाचनिक-विकार
वि.	=	विशेषण
विलि.	=	विधिलिङ्
वैतु.	=	वैपरीत्येन तुलनीय
ष.	=	षष्ठी विभक्ति
स.	=	सप्तमी विभक्ति
सं.	=	संबोधन
सना.	=	सर्वनाम
स्क.	=	स्कन्द स्वामी (ऋ.)
स्त्री.	=	स्त्रीलिङ्ग

अतितृण्णम् [११७]—अति-तृण्ण–, भा., < अति + √तृद् 'छेदने' + क्त प्र.।

अतिव्याधी [२२३]—अति-व्याधिन्–, वि., <अति + √व्यध् + णिनि प्र.।

अतिष्ठावान् [१३४]—अति-ष्ठावत्–, वि. (हस्तिन्), < (अति + √स्था > भावे) अतिष्ठा + मतुप् , प्र१।

अतिहितम् [१९९]—अति-हित–, वि. (⌊समाप्त⌋ आयु), <अति+√धा '*समाप्तौ', प्र१।

अदब्धासः [१]—अ-दब्ध–, वि. (धोखे से रहित ⌊क्रतु⌋), <अ (न) + (√दभ् 'दम्भे'>) दब्ध, तस.।

अदितिम् [८]—अ-दिति–, वि. (नौ), <अ (न) + (√दो 'अवखण्डने'>) दिति (खण्डित), तस.।

अद्वयाः [३३]—अ-द्वयस्–, वि. पुं. (अन्न), <अ (न) + द्वयस् (प्रतिकूल), तस. प्र१। (√वृत् '*वक्रभावे', भावे *वृत्वय>(वाबि.) द्वय>) द्वयस् (वि.)।

अद्विषेण्युः [२३]—अ-द्विषेण्यु–, वि. (अन्न),<अ (न) + द्विषेण्य (⌊वि.⌋ <√द्विष्), तस.।

अधरस्याः [२१३]—अधरा–, सना. स्त्री., पं१।

अधिब्रूहि [२११]—क्रि., <अधि + √ब्रू '*उत्साहवचने', लोट् म१।

अध्वराय [५४]—अध्वर्–, ना. (यज्ञ, पूजा), <√*अध् (= *ऋध्) 'आराधने'।

अनमित्रम् [४४]—अन्-अमित्र–, भा., < अन् (न) + अमित्र, बस.।

अनागसम् [८]—अन्-आगस्–, वि. (नौ), <अन् (न) + आगस् (अहानिकारक), तस.।

अनाहुतिम् [१०]—°हुति–, भा., < अन् (न) + (आ + √हु 'आदाने'>) आहुति (प्राप्ति, बलवत्ता), तस.।

अनु [१३६]—कप्र. व्याप्ति अर्थ में, जनान् (द्वि३) से युक्त ।

अनुराध्यास्म [४६]—क्रि., < अनु + √राध् '*संतोषे', आलि. उ३ ।

अनूप्याः [२७]—**अनूप्या-**, वि., स्त्री. (दलदल में होने वाली ⌊अप्⌋), < अनूप (< अनु + अप्) + यत् प्र., प्र३ ।

अनूराधम् [४६] —**अनुराध-**, भा.,<अनु + √राध् '*संतोषे', न. द्वि१, क्रिवि. ।

अनृक्षरा [३०]—**अनृक्षरा-**, वि. (पृथिवी), <अन् (न) + ऋक्षर (कण्टक) <√ऋष्=रिष् 'हिंसायाम्', बस. ।

अनेहसम् [८]—**अनेहस्-**, वि. (नौ), < अन् (न) + एहस् (संकट), बस. ।

अन्तरम् [१७१]—अन्तर-, ना. (रक्षार्थव्यवधायक ⌊ओट, ढाल⌋)।

अन्ति[४]—अव्य. (समीप, अन्तिक), 'शतम्' ⌊द्वि.⌋ के साथ संबद्ध ।

अपरीतासः [१]—**अपरीत-**, वि. (अबाधित ⌊क्रतु⌋), <अ (न) + परीत (< परि ⌊= प्रति⌋ + √इ 'गतौ'), तस., प्र३ ।

अपसः [१५५]—**अपस्-**, ना., पुं. (कर्मवीर), <√*अप् 'कर्मकरणे' + असिः प्र., प्र३ । आद्युदात्त अपस्- न. कर्म का वाचक है ।

अप्यगात् [२२०]—क्रि., <अपि √गा '*प्रवेशे', लुङ् प्र१ ।

अप्रयातम् [६७]—क्रिवि. (व्यवधानरहित, निरन्तर), < अ (न) + (प्र + √या '*विच्छेदे' >) प्रयात, तस., द्वि१ ।

अप्रयुच्छन् [१७०]—**°च्छत्-**, वि., <अ (न) + प्र + √युच्छ् 'प्रमादे' ।

अप्रायुवः [१]—**अप्रायु-**, वि. (अपराध-रहित ⌊देव⌋), <अ (न) + (अपराधवत्-> ⌊वावि.⌋) *प्राधूयू-, तस., प्र३ ।

अभि [८४]—क्रिवि. =उभयतः ।

अभिभाः [१२४]—**अभि-भा-**,

भा. (शत्रुता), < अभि + भा (<√भा ⌊=*√मा⌋ '*हिंसायाम्'), गस. ।

अभिशसा [१७४]—**अभि-शस्**–, भा. (शाप देना), < अभि + √शंस् "*शापे', तृ१ ।

अभिष्टये [२५]—**अभिष्टि**–, भा. (प्रभाव), < *अभ्यष्टि- (<अभि + अष्टि ⌊<√अश् 'व्याप्तौ = प्राप्तौ'⌋) गस., च१ ।

अभिह्रुतः [९]—**अभि-ह्रुत्**–, वि. (दुरेवा), < अभि + √ह्रृ 'कौटिल्ये', पं१ ।

अभूत्याः [१७१]—**अ-भूति**–, भा. (वेहोशी), अबुद्धि- > *अबूधि- > (वा।व.) यनि. ।

अमः [१७९]—***अमस्**–, ना. (बल), <√अम् '*बले', असुन्, प्र१ ।

अमा [१४]—अव्य. = गृहे ।

अमीवाम् [१०]—**अमीवा**–, ना., स्त्री. (रोग), <√अम् 'रोगे' ।

अम्भः [१७९]—**अम्भस्**–, ना. (शक्ति), <√*अम्भ् =√अम् '*बल' ।

अयः[१८८]--**अयस्**–, ना. (चांदी), < √अय् (< √*अर्य् < √भर्ज्) '*दीप्तौ' (तु. *अर्जुन इति पर्यायः) ।

अयक्ष्मम् [१८१]—**अ-यक्ष्म**–, भा., < अ (न) + यक्ष्म-, बस. ।

अया [५७]— =अनया, <इदम् तृ१ ।

अयुतः [११४]—**अ-युत**, वि. (असमद्), <अ (न) + युत- (<√यु '*हानौ'), तस. ।

अरणे[१४]—**अरण**–, ना. (विदेश, बाहर), <√*अर् 'पृथग्-भावे', स१ ।

अरम् [२८]—अव्य. (*पास में, समीप में ⌊इस अर्थ में **आरे** भी द्र.⌋) ।

अररुषीः [४६]—**अररिवस्**–, वि., स्त्री. (सेना), < (√*अर् 'हिंसायाम्'>) *अररि + क्वसुन्, प्र३ ।

अरातिम् [१०]—**अराति**–, भा. (शत्रुता), < √*अर् 'हिंसायाम्' ।

अरिष्टः [११]—अ-रिष्ट-, त्रि. (हानि-रहित ⌊मर्त⌋), ⌊२०⌋ रोग-रहित [प्राण], <अ (न) + रिष्ट (<√रिष् 'हिंसायाम्'), तस. ।

अरिष्टतातये [१५२]—अरिष्ट-ताति-, भा. (आरोग्य), च१ ।

अर्णः[७७]—अर्णस्-, ना. (शब्द), <√ऋ '*शब्दे' ।

अलपन् [२०९]—अ-लपत्-, अ (न) + लपत्- (< √लप् + शतृ), प्र१ ।

अवसे [९]—अवस्-, भा., < √अव् 'रक्षणे', च१ ।

अवहाय [२००]—अव+ √हा 'त्यागे', क्त्वा>ल्यप् प्र. ।

अवहितम् [१९३]—अव-हित-, वि., < अव + √धा 'अव-स्थाने' ।

अविदम् [२०५, २०९]—क्रि., <√विद् 'लाभे', लुङ् उ१ ।

अशत्रु [४३]—अ-शत्रु-, वि., न. (शत्रुरहित ⌊अभय⌋), बस. ।

अशस्तिम् [२०८]—अ-शस्ति-, भा. (दीनता), अ (न) + शस्ति- (<√शस् ⌊=*√शक् 'शक्तौ'⌋), तस. ।

अशीय [१००]—क्रि., <√अश् 'प्राप्तौ', आ. आलि. उ१ ।

अश्रवन् [९०]—क्रि., < √श्रु 'श्रवणे', भ्वादि., लङ् प्र३ ।

अश्वावतीः [५५]—अश्वावती-, वि. (उषस्), <अश्व + मतुप्, प्र३ ।

?अश्विना [१३२]— 'तावन्मे अश्विना वर्च आ धत्तां पुष्करस्रजा' इति पाठः क्रमश्च? > 'तावन्मे वर्च आ धत्स्वाऽश्विनोः पुष्करस्रजोः' इति शोधः । (अश्विन्- >) °श्विनोः ⌊ष२⌋ शोधः ।

असन् [१]—क्रि., < √अस् 'भुवि', लेट् प्र३ ।

असपत्नम् [११९]— असपत्न-, भा., <अ(न) + सपत्न-, बस. । भाव-परक निर्देश ।

असुराः[९४] — असुर-, ना. (देव), <√अस् 'दीप्तौ' भ्वा., प्र३ ।

अस्तृतः [११०]—**अ-स्तृत-**, वि. (नाशरहित- ⌊अस्मद्⌋), < अ (न) + स्तृत (<√स्तृ 'हिंसायाम्', भा. ⌊नाश⌋), बस.।

अस्मृति [१६५]—क्रिवि., (अस्मृत्या), < अ (न) + स्मृति, तस., न. द्वि१।

अस्मे [१०३]— =अस्मभ्यम्, <अस्मद्-।

आ [१५०]—क्रि., *आः, (√अस् 'भुवि' लिट् प्र१ >) आस > (वावि.) यनि.।

आ [२२३]—सप्तम्यर्थ-पोषक कप्र.।

आकूतिः [१०१]—**आ-कूति-**, भा. (सूझ), < आ + √कू "*चिन्तने'।

आगन् [१०९]—**आ-अगन्-**, क्रि., <आ + √गम् 'गतौ', लुङ् प्र१।

आगमन्तु [१०३]—क्रि. (=आगच्छन्तु), आ√गम्, अदादि, लोट् प्र३।

आगमम् [१४०]— ***आ-गमम्-**, क्रि. लेट् (वैतु. पपा. आ-अ°)।

आगहि [९२]—क्रि. (=आगच्छ), <आ + √गम् अदादि, लोट् म१।

आचक्ष्व [१७२]—क्रि., <आ √चक्ष् 'दर्शने', लोट् म१।

आत्मनः [२०६]—**आत्मन्-**, नाप. (शरीर), पं१।

आत्मनि [१४२]—**आत्मन्-**, सप्त१। पाठ?, आ आत्मनि शोध इष्ट (तु. छन्द)।

आद्यम् [२१४]—**आद्य-**, वि., < √अद् 'भक्षणे' + ण्यत् प्र.।

आधीतम् [१७७]—**आ-धीत-**, भा., <आ + √धी (<√ध्यै 'चिन्तायाम्'), प्र१।

?आ धत्ताम् [१३२]— पाठः क्रमश्च ? (<आ+ √धा>) आ धत्स्व इति शोध। ?**अश्विना** देखो।

आध्रः[५०]—**आध्र-**, ना.(याचक), (√अर्ध् ⌊*=√अर्द्⌋ याचने> *अर्ध्वर > *अद्धर > *आधर >) ⌊वावि.⌋ यनि.।

आपः [१८]—**अप्-**, ना. स्त्री. (नदी), प्र३।

आमृळाति [३४]— =°मृडा°,

क्रि., <आ + √मृड् 'प्रसादे', लेट्, प्र१।

आयेजे [६]—क्रि. (=आ + ईजे >एजे ⌊यज्ञ किया था⌋), <आ + √यज् 'पूजायाम्', लिट्, आ., प्र१।

आरभस्व [२०७]—क्रि., आ +√रभ् '*धारणे', लोट्, म१।

आरुहेम [८]—क्रि. (=आरोहेम), < आ +√रुह्, तुदादि, विलि., उ३।

आरे [१०, १७४]—आर्-, भा. (आरात्, दूरे), <√ऋ '*पृथग्भावे', स१।

आर्ली [८४]—आर्लि-, ना. स्त्री. (कोटि), प्र२।

आववृत्रन् [२१७]—क्रि., आ + √वृत् 'वर्तने', लुङ्, प्र३।

आशसा [८१]—आ-शस्-, भा. (आशा), <आ +√शंस् 'इच्छायाम्', तृ१।

आस [९०]—क्रि., <√अस् 'भुवि', लिट्, प्र१।

आसुरस्य [१३२]—आसुर-, वि. (सूर्य), <√अस् 'दीप्तौ', ष१।

आहाः [१९९]—आ-अहाः, क्रि., <आ+√हृ 'हरणे', लुङ्, प्र१।

इद् (त्) [१४]—अव्य. एवार्थे।

इन्द्रसानसिम् [१२]—वि. (रथ), <इन्द्र + (√सन् 'प्राप्तौ'>) सानसि-, उस., द्वि१। वैतु. पपा. में दो पद मान कर 'इन्द्र' सं१ माना है।

इन्द्रियम् [९१,१३३]—इन्द्रिय-, ना. (बल), <इन्द्र-, प्र१।

इषव्यः [२२३]—इषव्य-, वि., <इषु + (साध्वर्थे) यत् प्र.।

इषा [६७]—इष्-, ना. (धन-धान्य, अन्न), <√इष् '*पुष्टौ', तृ१।

इषुः [६८]—इषु-, भा. स्त्री. (तीव्रता), < √इष् 'प्रेरणायाम्'।

ईदृशे [३४]—ईदृश-, भा. (वृद्धि), (√एध् > *एध्र- ⌊=वृद्धि⌋ > *एध्रिश- > ⌊वावि.⌋ यनि.) च१।

ईमहे [६३]—क्रि., <√ई 'प्राप्तौ', अदादि, लट्, उ३।

ईशिरे [७]—क्रि. (=ईशाञ्चक्रिरे), <√ईश् 'ऐश्वर्ये', लिट्, प्र३।

उ [१६]—नि. चार्थे। पपा. ऊँ इति।

उग्रा [४८]—उग्र–, वि. (बाहु), <√*उज् 'बले', प्र२।

उच्चरत् [६१]—क्रि., <उद् +√चर् 'गतौ', लुङर्थे लङ्, प्र१, अट् का अभाव।

उच्छन्तु [५५]—क्रि., <√उच्छ् 'दीप्तौ', लोट्, प्र३।

उत्तरम् [५८]—उत्तर–, वि. (ऊपर के भाग में होने वाली [ज्योति]), द्वि१।

उदगात् [२२०]—क्रि., उद् +√गा '*प्रत्यावर्तने', लुङ्, प्र१।

उदन्वतीः [१८]—°न्वती-, वि., स्त्री. (अप् = नदी), <उदन् (जल) + मतुप्, प्र३।

उदवा [५१]—उद्-अव, क्रि., <उद् + √अव् 'रक्षणे', लोट्, म१।

उदितौ [५२]—उद्-इति–, ना. (उदय), < उद् + इ 'गतौ', स१।

उदैति [१५४]—क्रि., <√*उदै 'गतौ', लट्, प्र१ (वैतु. पपा. उद् + आ + एति)।

उद्भिदः [१]—उद्-भिद्–, वि. (बन्धनरहित [क्रतु]), <उद् [नञ्-अर्थे] + √भिद् '*बन्धे', प्र३।

उद्यन् [५९]—उद्-यत्–, वि. (सूर्य), उद् + √इ 'गतौ', शतृ, प्र१।

उद्यमानम् [९०]—उद्यमान–, वि., <√वद् 'कथने', कवा., शानच्।

उपगुः [४६]—क्रि., < उप + √गा 'गतौ', लुङ्, प्र३। 'मा' के योग में अट् का अभाव।

उपतप्यामहे [८७]—क्रि., <उप + तप् 'दाहे', कर्मकर्तृ, लट्, आ., उ३।

उपशेकिम [१६१]—क्रि., <उप + √शक् 'शक्तौ', लिट्, उ३।

उपसेदिमा [२]— °दिम, क्रि., <उप + √सद् 'प्राप्तौ', लिट्, उ३ ।

उपारिम [१६५, १७४] —उप-आरिम–, क्रि., <उप + √ऋ '*विपरीत-कर्मणि', लिट्, उ३ ।

उरु [१८]—उरु–, वि.,न. (विस्तृत ⌊अन्तरिक्ष⌋), <√वृ '*वृद्धौ', प्र१ ।

उरुक्रमः [१५]— °म–, वि. (विष्णु), < उरु + √क्रम् 'पादविक्षेपे', उस., प्र१ ।

उरुचक्षाः [१६]—उरु-चक्षस्–, वि. (सूर्य), < उरु + √चक्ष् 'दर्शने', उस., प्र१ ।

उर्वारुकम् [७४]— °क–, ना. (तरबूज), <उरु + वार् (जल) + *उक (फल), बस. ।

उर्वीः [१२४]—उर्वी–, ना., स्त्री. (दिशा), < उरु, सं३, स्वरा-भाव ।

उशतीः [२३]—उशती–, वि. स्त्री. (मातृ), <√वश् 'कामनायाम्', शतृ, प्र३ ।

ऊतये [९]—ऊति–, भा., स्त्री. (रक्षा), <√अव 'रक्षणे', क्तिन्, च१ ।

ऊधभिः [५६]—ऊधन्–, ना. (आपीन), (ऊर्ज् ⌊भोजन, दूध⌋ + √धा) > *ऊर्ग्-ध > (वावि.) यनि., हेत्वर्थे तृ३ ।

ऊर्जे [२२]—ऊर्ज्–, ना. (बल), च१ ।

ऊर्मिम् [३५]—ऊर्मि–, ना. (अन्न), √*भृ '*भोजने' > *भूर्मि > (वावि.) यनि. ।

ऋजूयताम् [२]— ऋजूयत्–, वि. (देव), <√ऋजूय ('अनुकूल होना' ⌊नाधा.⌋ <ऋजु), ष३ ।

ऋतुभिः [२१८]—ऋतु–, ना. (पर्याय), <√ऋ '*वर्तने', तृ३ ।

ऋधेम [७०]—क्रि. (= ऋध्याम), < √ऋध् 'वृद्धौ', तुदादि, विलि., उ३ ।

एधि [२१]—क्रि. (=एतु), (√इ 'प्राप्तौ', लेट् >) अयति > (वावि.) यनि., प्र१ ।

एधिषीमहि [१११]—क्रि., < √एध् 'दीप्तौ', आलि., उ३ ।

एनसः [७]—एनस्–, ना. (पाप) । परि के योग में पं१ ।

एनस्यः [१६३]—°स्य–, वि. (पापी ⌊मैं⌋), < एनस् , तस्येदम् अर्थ में यत् प्र. ।

एमः [१९०]—एम–, ना. (लक्ष्य ⌊प्राप्तव्य⌋), < √इ 'प्राप्तौ' ।

एवा [१४२]—एव, नि. (एवम्) ।

एवा [१४३]—<एव + आ इति पद-विभाग ।

ऐत [२१६]—आ + ऐत, क्रि., <आ + √इ 'गतौ', लङ्, म३ (वैठ. पपा. < √इ इति) ।

ओतम् [१५८]— ओत–, वि., <आ+√वे 'तन्तुसन्ताने', क्त प्र. ।

ओषधीः [१८]— ओषधि–, ना., प्र३ ।

औद्भिद्यम् [१८४]— °द्य–, ना. (पैदावार), < (⌊√वृध् '*प्ररोहे' >⌋ उद् + ⌊*भृत्->⌋ भिद्->) उद्भिद् (पौदा) + समूहेऽर्थे ष्यञ् प्र. ।

कतमत् [१०१]— सना. (कदा), *कतम-वृत् (समय ⌊कस्मिन् समये⌋) >(वावि.) यनि. ।

कनिक्रदत् [२०]—°दत्–, वि. (देव ⌊मेघ⌋), < √क्रन्द् 'शब्दे', यङ्लुक्, शतृ, प्र१ ।

कम् [२१९]—अवधारणेऽर्थे अव्य. ।

कराति [४०]—क्रि., < √कृ 'करणे', भ्वादि, लेट्, प्र१ ।

करामहे [१०२]—क्रि., √कृ 'स्तुतौ', भ्वादि, लेट्, उ३ ।

कर्त [६]—क्रि. (=कुरुत), < √कृ 'करणे', अदादि, लोट्, म३ ।

कल्पयाति [१०५]— क्रि., < √क्लृप् ⌊कल्प्⌋, लेट्, प्र१ ।

कुयवम् [१८५]— कु-यव–, *अ-कु-(तु. अनल्प)+यव (धान्यादि), बस. *अकु-यव>(वावि.) यनि. ।

कृणोत [१२४]—क्रि. (=कुरुत), √कृ 'करणे', स्वादि, लोट्, म३ ।

कृणोतु [४२]—क्रि. (=करोतु) ।

कृत्रिमा [५]— °मा–, वि.; स्त्री. (तीक्ष्ण ⌊शरु⌋), < √कृ '*छेदने,'

त्रिम प्र., प्र१ ।

कृधि [४५]—क्रि. (=कुरुष्व), < √कृ 'करणे', लोट्, म१ ।

कृषिः [१८४]—कृषि–, ना. (खेती), < √कृष् '*उत्पादने' ।

क्रतवः [१]—क्रतु–, भा. (भावना), < √कृ '*चिन्तने', प्र३ ।

क्रतुः [१७६]— क्रतु–, ना., < √कृ '*धर्मे' ।

क्रत्वे [१९५]—क्रतु– (=एकान्तरीयपूर्व), भा., च१ क्रतवे> (वावि.) यनि. ।

क्रियते [२१९]— क्रि., < √कृ '*शब्दे', कवा. ।

क्षयाय [२४]—क्षय–,भा. (ऐश्वर्य), < √क्षि 'ऐश्वर्ये' । 'नः क्षयाय, यस्य (अन्नस्य) जनयथ जिन्वथ च' इत्येवम् अन्वयः द्र. ।

क्षयेम [४८]—क्रि., < √क्षि 'निवासे, आश्रये', भ्वादि, विलि., उ३ ।

क्षेत्रस्य [१७]—क्षेत्र–, न. (कृषि), < √क्षि '*उत्पत्तौ' ।

खनित्रिमाः [२७]— खनित्रिमा–, वि., स्त्री. (खोदकर पाये जाने वाली ⌊अप्⌋), < √खन् 'खनने' ।

गन्तोः [४]—गन्तु–, भा. (गमन), < √गम् 'गतौ', ष१ ।

गमाम [२४]—क्रि., < √गम्, भ्वादि, लेट्, उ३ ।

गमेमहि [८५]—क्रि., सम्···गमेमहि < √गम्, भ्वादि, विलि., उ३ । सम् के योग में आ. ।

गिरः [१४६]— गिर्–, ना. (देव), < √गॄ (=√घृ) *दीप्तौ' (तु. गिर्वन्), सं३ ।

गोपीथाय [११०]—गोपीथ–, भा. (संरक्षण), √गुप् >गोप> यनि.

ग्रहम् [११२]—ग्रह–, ना. (⌊सोम का⌋ पात्र), < √ग्रह् 'ग्रहणे' ।

घर्मः [११३]—घर्म–,ना. (कड़ाही), < √घृ 'क्षरणदीप्त्योः' ।

घासम् [६७]— घास–, ना., < √घस् अदने ।

घृतप्र्वः [२८]—घृत-पू–, वि., स्त्री. (धारावाही ⌊अप्⌋), <घृत +√पू 'गतौ', उस., प्र३ ।

घृतम् [५५]—घृत–, ना. (रश्मि), <√घृ 'दीप्तौ'।

घृतेन [२८]—घृत–, ना. (धारा), <√घृ 'क्षरणे'।

चकृम [१६५]—क्रि., <√कृ (*=√कृत्) '*त्रुटौ', लिट्, उ३।

चक्रा [४]—चक्र, क्रि., <√कृ 'करणे', लिट्, म३।

चकृषम् [१९३]—चकृवस्–, वि., <√कृ 'करणे', क्वसु, द्वि१ (=चकृवांसम्)।

चक्षसे [२२]—चक्षस्–, भा., <√चक्ष् 'दर्शने', च१। अथवा √चक्ष्+तुमर्थे असेन् प्र.।

चरणे [१६५]—चरण–, भा. (आचरण), <√चर् 'गतौ'।

***चहस्तिनः** [१३२]—*चहस्तिन्–, वि. (सूर्य), <(√*जहस् ⌊=√चकास्⌋ 'दीप्तौ'> *चहस्ति ⌊किरण⌋, मत्वर्थे इनि प्र. ⌊वैतु. पपा. प्रभृ. च। हस्तिनः इति द्वे पदे इति⌋)।

चेतन्ती [७६]—वि., स्त्री. (चेतयन्ती ⌊सरस्वती⌋), <√चित् 'संज्ञाने', शतृ, प्र१।

चोदयित्री [७६]—°त्री–, वि., स्त्री. (प्रेरयित्री ⌊सरस्वती⌋), <√चुद् 'प्रेरणे', तृच्।

जगत् [१८०]—जगत्–, ना. (पशु), <√*जग् (*=√जागृ) 'निद्राक्षये=चैतन्ये'।

जगतः [७]—जगत्–, ना. (जङ्गम), <√*जग् 'गतौ', (वैतु. अन्ये <√गम् 'गतौ')।

जजान [१०५]—क्रि. (=जनयामास), <√जन् 'प्रादुर्भावे', लिट्, प्र१।

जज्ञिषे [१९७]—<√जन् 'प्रादुर्भावे', लिट्, म१।

जनिषीय [१४०]—क्रि., <√जन् 'प्रादुर्भावे', आलि., आ., उ१।

जयामसि [३४]—क्रि.(=जयामः), <√जि।

जरदष्टिः [२०७]—°ष्टि–, भा., <जरत्- (=जरस्=⌊पूर्ण⌋ आयु) + अष्टि(प्राप्ति), बस.। शेष जरसः पर देखें।

जरसः[१९७]—जरस्–, ना.(⌊पूरी⌋ आयु), <√जॄ '*आयुर्-अवधि-प्राप्तौ'। (तु. जरदष्टि–)।

जरसा [२११]— जरस्–, ना. (⌊पूर्ण⌋ आयु), तृ१। शेष जरसः पर देखें।

जरिम्णः [२०१]— जरिमन्–, ना. (⌊पूर्ण⌋ आयु), ष१। (तु. जरसः, जरसा)।

जविष्ठम् [१५९]— जविष्ठ–, वि. (मनस्),<(√जु 'प्रेरणे' कर्तरि>)जव, अतिशयार्थे इष्ठन्, प्र१।

?जहीतम् [१९८]—जहीताम् शोध इष्ट है।

जिन्वथ[२४]—क्रि., <√जिन्व् 'प्रीतौ', लट्, म३।

जिहीळानस्य [१६७]— जिहीळान(°डा°)–, वि., <√हीड्=हेड् 'अनादरे', लिट्, कानच्, ष१।

जीवतो जीवतः [१९६]— जीवत्–, शतृ प्र., ष१। व्याप्ति के अर्थ में आम्रेडित।

जीवसे [२]— जीवस्–, भा. (जीवन),<√जीव् 'प्राणधारणे', च१। अथवा √जीव्+तुमर्थे असे प्र.।

जेमा [१७९]— जेमन्–, भा. पु. (विजय),<√जि 'जये', मनि, प्र१।

जैत्रम् [१८४]— जैत्र–, ना. (उपज), √जन्> *जनित्र> (वावि.) *जइत्र>यनि.।

जोषत् [८६]—क्रि., <√जुष् 'संभजने', लेट्, प्र१।

जोहवीमि [५३]—क्रि., <√हु <ह्वे 'आह्वाने',यङ्लुक्, लट्, उ१।

ज्ञातात् [४१]— ज्ञात–, ना. (ज्ञाति), <√ज्ञा '*संबन्धे'।

ज्ञात्रम् [१८२]— ज्ञात्र–, भा. (ज्ञान),<√ज्ञा 'अवबोधने'।

ज्योक् [२६]—अव्य. (चिरकाल तक, लगातार)।

तनूपानः [२२१]— तनू-पान–, वि. (स्वतः ज्योतिष्मान् ⌊साधक⌋), <तनू- (आत्मन्–, स्वयम्) + पान (<√पा '*भाने'), उस.।

तन्वौ [८२]—(तनु-> ⌊स १⌋) तन्वाम्>(वावि.) यनि. ।

तुस्मा [२४]—√तस् '*पोषणे'> *तुस्म-(ना. ⌊अन्न⌋), >(च१) *तुस्माय> (वावि.) यनि. (वैतु. पपा. तुस्मै ⌊<तुद्-⌋) । सस्थ. क्षुयाय द्र. ।

तायुमाने [८०]—तायुमान-, वि. (अध्वर), <√तन् 'विस्तारे', कवा., शानच् ।

तुरः [५०]—तुर-, ना. (धनवान्) (√ऋध् 'वृद्धौ' ⌊*=धने⌋>) *ऋधुर>*धुर>(वावि.)यनि. ।

तुरम्[६४]—तुर-, वि. (बढ़ाने वाला ⌊भोजन⌋), √वृध् 'वृद्धौ' >*वद्र्धुर्>(वावि.) यनि.

तुष्टुवांसः [३]— तुष्टुवस्-, वि. पुं. (*बलवान् होकर ⌊हम⌋), <√स्तु '*बले', क्वसु, प्र३ ।

?ते [२०७,२०८]—पाठः?, (त्वयि >) त्वे इति शोधः ।

त्रायमाणः [१७]—त्रायमाण-, वि. (चमकता हुआ ⌊सविता⌋), <√त्रै '*दीप्तौ', शानच् प्र. ।

त्रिशुक् [११३]— त्रि-शुच्-, क्रिवि., <त्रि (*अत्यन्त ⌊तु. त्र्यम्बक⌋) + √शुच्, उस., न., द्वि१ ।

त्रिषप्ताः [८२]— °प्त-, ना. (२१), <त्रि+सप्तन् , बस. ।

त्र्यम्बकम् [७४]— त्र्यम्बक-, ना. (विस्तृत गति वाला, वायु-रूप ⌊रुद्र⌋), <(√तृ '*विस्तारे' >) त्रि (विस्तृत) + (√अर्ब् 'गतौ' >अर्बक ⌊भा.⌋>⌊वावि.⌋) अम्बक, बस. ।

त्विषिः [१२६]— त्विषि-, भा., <√त्विष् 'दीप्तौ' ।

दुक्षः [११३]— दुक्ष- , भा. (दक्षता), <√दक्ष् ।

दुदत् [५१]— दुदत्-, वि., <√दा 'दाने', शतृ, प्र१ ।

दधत् [२०२]—क्रि., <√दध् 'दाने', लेट्, प्र१ ।

दधिक्रावेव [५४]—दधि-क्रावन्-, ना. (अश्व), >°वाणः । इव> °वाण इव>(वावि.) यनि. (वैतु. पपा. प्रमृ. °वा । इव) ।

दात् [८०]— क्रि., <√दा 'दाने', लेडर्थे लुङ्, प्र१ ।

दाशुषे [८०]— दाश्वस्–, ना., <√दाश् 'दाने', क्वसु, च१ ।

दिवेदिवे [१]— दिवे, ⌊दिव्–, ना. (दिन)⌋, स१, (वीप्सार्थे) यनि. ।

दुः [२०४]—क्रि.,<√दा 'दाने', लुङ्, प्र३ ।

दुरिता [११]—दुरित–, ना. न. (दुःख), <दुर्+√इ 'गतौ', क्त । अति के योग में द्वि३ ।

दुरेवायाः [९]— दुरेवा–, ना. स्त्री. (बुरा मार्ग), दुर् + (√इ 'गतौ'>) एव, गस., पं१ ।

दुर्विदत्राम् [१०]—दुर्विदत्रा–, वि., स्त्री. (अराति), <दुर्+ √विद् 'लाभे', द्वि१ ।

दुरस्यवः [१२३]— दुरस्यु–, ना. (हानि चाहने वाला ⌊शत्रु⌋), <√दुरस्य, (नाधा. <दुरस् ⌊हिंसा⌋), प्र३ ।

दुःष्वप्न्यम् [६५]—दुः-स्वप्न्य–, भा., <दुस्+स्वप्न, + स्वार्थे प्र. (तु. ⌊१६५⌋) ।

दुहानाः [५५]—दुहाना–, वि. (उषस्), <√दुह् (=√ धुक्ष् 'संदीपने'), शानन्, प्र३ ।

दुहे [१९१]— क्रि. (=दुग्धे), <√दुह् 'प्रपूरणे', लट्, प्र१ ।

दृशे [२६]— दृश्–, भा., < √दृश् 'दर्शने', च१ । अथवा तुमर्थ में के प्र. ।

देवः [२०]— देव–, वि. (*जल-भरा ⌊पर्जन्य⌋),<*उद–+ ⌊मतु-बर्थे⌋ एवच् प्र., आदिलोपः ।

देवगोपा [१४]— °गोपा–, वि., स्त्री. (स्वस्ति ⌊सुख-साधना⌋) <देव + गोप (रक्षक), बस., प्र१ ।

देवत्रा [५८]— अव्य. (=देवेषु), सप्तमी के अर्थ में त्रा प्र. ।

देवयन्तः [८०]— देवयत्– (देवों के प्रसाद को चाहता हुआ ⌊जन⌋), <(देव>नाधा.) √देवय, शतृ, प्र३ ।

देवहितम् [३]— देव-हित–, वि. (आयुस्), <देव+ (√धा '*दाने'

>)हित, तृस. ।

देव॒हू॑त्या [९]—देव॒-हू॑ति–, (देवताओं का आवाहन करने वाली ⌊टेर⌋) ना., <देव+हूति (<√ह्वे 'आह्वाने'), बस., तृ१ ।

देवहे॒डनम् [१६०]—देव-हे॒डनम्–, भा., <देव + (√हेड् 'अनादरे'>) हेडन, उस. ।

दो॒धतः [१३५]—दो॒धत्–, ना. (शत्रु), <√*दुध् 'उपतापे', शतृ, द्वि३ ।

द्या॒म् [८]—द्यो–, वि. (दीप्यमान ⌊नौ⌋), <√दिव् 'दीप्तौ', द्वि१ ।

द्या॒वः [३६]—द्यो–, वि. (दिव्य ⌊अप्⌋), <√दिव् 'द्युतौ' ।

द्रुप॒दात् [१६३]—द्रुप॒द्–, ना. (⌊काठ का बना हुआ⌋ खूँटा), <द्रु (काष्ठ) + पद (<√पद् *बन्धने), कस., पं१ ।

द्रु॒हः (४६)—द्रु॒ह्–, ना. (शत्रु), <√द्रुह्, द्वि३ ।

द्विषः [४५]—द्विष्–, ना. (शत्रु), <√द्विष् 'अप्रीतौ', द्वि३ ।

द्वे॒षः [१०]—द्वे॒षस्–, भा. (द्वेषकृतहानि), <√द्विष् ।

धन्व॒न्या॑ः [२७]—धन्व॒न्या॑–, वि., स्त्री. (अप्), <धन्वन् (मरुप्रदेश)+भवार्थे यत्, प्र३ ।

ध॒न्वसु [१३]—ध॒न्वन्–, ना. (मरुस्थल), स३ ।

?धर्त्रा [१८२]—भा., <√धृ 'धारणे', पाठः? । धर्त्रे->-त्रेम् इति शोधः ।

ध॒र्मणः [११]—ध॒र्मन्–, भा. (विच्छेद), < √ *धृ ⌊=√दृ⌋ 'विदारणे' । परि के योग में पं१ ।

धाः [१०८]—क्रि., <√धा 'धारणे', लुङ्, म१ ।

धि॒यम् [५१]—धी–, ना. (स्तुति), <√धी 'स्तुतौ', द्वि१ ।

धि॒या [१५१]—धी– (=नान्तरीय पूर्व), तृ१ ।

धि॒यावसुः [७५]—वि. (सरस्वती), <(धी>) धिया + वसु (<√वस् ⌊=√वाश्, सृ⌋ '*शब्दे'), बस., प्र१ ।

धि॒ष्ण्याः [९१]—धि॒ष्ण्य–, वि. (यज्ञिय ⌊अग्नि⌋), (धिषणा>

धिषण्य>⌊वावि.⌋ यनि.) प्र३ ।

धीतिः [१७६]—धीति–, भा., < √*धी 'स्तुतौ' ।

धीमहि [६२]— क्रि., <√धी (<√ध्यै) 'स्तुतौ', अदादि, विलि., उ३ ।

धुक्ष्व [३५]— क्रि., <√दुह् 'दोहने', आ., लोट्, म१ ।

ध्रुवयः [१६]—ध्रुवि–, वि. (ध्रुव-⌊पर्वत⌋), <√ध्रु 'स्थैर्ये', प्र३ ।

नक्तम् [४१]—नक्त–, ना. (रात्रि), <(√वृ 'आवरणे'>) *वर्णक् >*नक् (आवरण, अन्धकार) ।

नमन्त [५४]—सम्…नमन्त, क्रि., <सम् + √नम् 'प्रह्वत्वे', लङ्, प्र३ ।

निकामे-निकामे[२२३]—नि-काम-, ना., नि (अभावे)+(√कम् ⌊*=√स्रु⌋ 'स्रवणे'>) काम, अस., स१, (वीप्सार्थे) यनि. ।

निगाम् [१०१]—क्रि., <नि+√गा 'गतौ', लुङ्, उ१ ।

नियच्छतु [८४]— क्रि., <नि + √यम् ⌊यच्छ्⌋, लोट्, प्र१ ।

निरमय [८३]— क्रि., नि-रमय, <नि+√रम् '*अवस्थाने', लोट्, म१ ।

निर्ऋत्यै [१७२]—निर्-ऋति–, ना. (दुःख), च१ ।

निवता [१२३]—नि-वत्–, भा. (निम्नता), <*नि-वृत्–, तृ१, क्रिवि. (तु. उद्-वत्–, प्र-वत्- प्रभृति) ।

निवर्तताम् [२]—क्रि. (नितरां वर्तताम्), <नि+√वृत् 'वर्तने', लोट्, प्र१ ।

निःशसा [१७४]—निःशस्–, भा. (निराशा), <निस् + √शस् 'इच्छायाम्', तृ१ ।

नीचीनम् [१९१]—नीचीन– (नीच), क्रिवि., न. द्वि१ ।

नृतये [२१७]— नृति–, ना., <√नृत्, 'नृत्ये', च१ ।

नृवन्तः [५१]—नृ-वत्–, वि., < नृ+मतुप्, प्र३ ।

नेनीयते [१५९]—क्रि., <√नी 'प्रापणे', यङ्, लट्, प्र१ ।

नेषि [४८]—क्रि. (=नयसि),< √नी 'प्रापणे', अदादि, लट्, म१ ।

न्यंग् [१९१]—न्यं (नि-अ) ञ्च्- (नीचा), क्रिवि., <नि+ √अञ्च् ⌊=√वञ्च् 'कौटिल्ये'⌋, न. द्वि१ ।

पच्यन्ताम् [२२३]—क्रि., < √पच् 'पाके', कर्मकर्तृ, लोट्, प्र३ ।

पथ्यांसु [१३]— पथ्यां-, ना., स्त्री. (मार्ग), <√पथ् 'गतौ', स३ ।

पयस्वतीः [१०८]—पयस्-वती-, वि. (रस से भरपूर ⌊प्रदिश्⌋), प्र३ ।

परस्पाः [४७]—परस्-पा-, वि. (इन्द्र-), < (√पृ ⌊< √स्पृ⌋ 'संरक्षणे' >) परस्- ⌊भा.⌋+ (√पा 'रक्षणे', कर्तरि>) पा-, उस., प्र१ ।

पराचैः [१९९]—पराचैस्,'अत्यन्त' अर्थ में अव्य. ।

परावतः [१०४,१९४]—परा-वत्- ना., स्त्री. (दूर ⌊दिशा⌋), <परा +वति प्र. । =[१९४]—ना., स्त्री. (पहाड़ ⌊दिशा⌋), परा (< *उपरा- ⌊=उपरि⌋) । यह विशेषता है ।

परि [११]—क्रिवि. (=परितः) ।

परि [७; ५८ प्रभृ.]—वर्जन अर्थ में कप्र. (छोड़कर), (तु. एनसः, तमसः, प्रभृ. पं१) ।

परि [९६]—लक्षण अर्थ में कप्र. (तु. मध्यन्दिनम् द्वि१) ।

परि दद्मसि [२१५]—क्रि.,<परि +√दा (=√धा) 'परिधाने (संरक्षणे)', लट्, उ३ ।

परिधिः [२१९]—परि-धि-, ना. (परिवेष्टन), <परि√धा ।

परूंषि [१७८]—परुस्-, ना. न. (पर्व), <*पर्वस् (पर्वन्), प्र३ ।

१पवित्रेण [१५३]—पवित्र-, भा. (पवित्रता), <√पू 'शुद्धौ', तृ१ ।

२पवित्रेण [१६४]—पवित्र-, ना. (छानने का वस्त्र), <√पू 'पवने' ।

पावका [७५]— पावका-, वि. (वाग्व्यवहारक ⌊सरस्वती⌋), √ब्रू> *ब्रावक> (वावि.) यनि. ।

पितो [३२]—पितु–, ना. (अन्न), √पॄ 'पालने'>प्रितु>(वावि.) यनि., सं१।

पीतये [२५]—पीति–, भा.,<√पी<√प्याय् 'वृद्धौ', च१।

पुत्रकृथेषु [१३]—पुत्र-कृथ–, वि. (योनि), <पुत्र+√कृ 'करणे', उस., स३।

पुरः [४१]—*पुर्–, ना. (अन्य, भिन्न, पर), √प्रथ् '*पृथग्भावे' >*प्रथुर्->(वावि.) यनि.।

पुरएता [५३]—पुरः-एतृ–, ना. (नायक), <पुरस्+√इ 'गतौ', उस., प्र१।

पुरन्धिः [२२३]—पुरन्धि–, वि. (वीरप्रसविनी ⌊योषा⌋), <√*पुर् 'वृद्धौ,' प्र१।

पुरन्ध्या [६३]—पुरन्धि–, भा. (*पूर्णता), < √पॄ 'पूर्तौ', तृ१।

पुरस्कृधि [४४]—क्रि., <पुरस्+√कृ, लोट्, म१।

पुषेम [६९]—क्रि. (=पोषयेम),<√पुष् 'पुष्टौ', तुदादि, विलि., उ३।

?पुष्करस्रजा [१३२]—पुष्कर-स्रज्–, वि. (प्रकाशपुञ्ज ⌊अश्विन्⌋),<पुष्कर (*दीप्ति) +(√*स्रज् ⌊=√सृज्⌋ '*संयोगे' >) स्रज् ⌊भा.⌋, बस., प्र२। पाठः?। °स्रजोः इति शोधः। तु. टि. ?अश्विना।

पृणत् [८१]—क्रि., <√पृण् 'पूरणे', तुदादि, लेट्, प्र१।

पृणीत [२६]— क्रि., <√पॄ ⌊=√प्री⌋ '*दाने', क्र्यादि, लोट्, म३।

पृथिवीम् [८]—पृथिवी–, वि. स्त्री. (विस्तारवती ⌊नौ⌋), <√प्रथ् 'विस्तारे'।

पृदाकौ [१२५]—पृदाकु–, ना. (सांप), <√*पृद् ⌊=√वृध् 'छेदने'⌋, स१।

पोषयित्नु [३४]—पोषयित्नु–, ना. (पोषक, अन्नादि), <√पुष् 'पोषणे', णिच्,इत्नुच्, प्र१।

प्रचेतः [१६५]—प्र-चेतस्–, भा.

(प्रकृष्टज्ञान), सं१ ।

प्रचेतसः [७]—प्र-चेतस्-, वि. (प्रकृष्टज्ञानवान् ⌊आदित्य⌋), <प्र+(√चित् 'ज्ञाने'>भा.) चेतस्, बस., प्र३ ।

प्रचोदयात् [६२]—क्रि., <प्र + √चुद् 'प्रेरणे, णिच्, लेट्, प्र१ ।

प्रजनय [५१]—क्रि., प्र+√जन् '*धने, समृद्धौ', लोट्, म१ ।

प्रणेतः [५१]—प्रणेतृ-, ना., <प्र + √नी, तृच्, सं१ ।

प्रतरम् [१६९]—क्रिवि., <प्र+तर (=प्रतराम्) ।

प्रतारिषः [३७]—प्र-प्र…तारिषः; क्रि., <प्र+√तॄ '*वृद्धौ', लेट्, म१ । पादपूरणार्थ उपसर्ग की द्विरुक्ति ।

प्रतिरन्तु [२]—प्र-तिरन्तु, क्रि. (बढ़ायें), <प्र+√तॄ 'वृद्धौ', तुदादि, लेट्, प्र३ ।

प्रतिवेशाः [६७, ६८]— प्रति-वेश- (समीपवर्ती ⌊हम⌋), < प्रति + वेश (<√विश् '*सह-वासे'), प्रादिस. ।

प्रथमा [९२]—प्रथमा-, वि. (श्रेष्ठ ⌊मेधा⌋), प्र१ ।

प्रदिवः [१४५]— प्र-दिव्-, ना. (देवता), <प्र+√दिव् 'दीप्तौ', गस., प्र३ ।

प्रपित्वे [५२]—प्र-पित्व-, ना. (सायम्), प्र+(√पृ 'पूर्तौ'>) पृत्व> *प्रपृत्व>(वावि.) यनि., स१ ।

प्रपीताः [५५]—प्र-पीता-, वि. स्त्री. (उषस्), (प्र + √वृध् '*भासने'>) प्रवृद्धा> प्रपित्ता >(वावि.) यनि., प्र३ ।

प्रपीताम् [९३]— प्र-पीता-, वि. (मेधा), (प्र+√वृध् 'भाषणे, स्तुतौ'>) प्रवृद्धा> प्रपित्ता> (वावि.) यनि., द्वि१ ।

प्रबुधाम् [१२३]— प्र-बुध्-, वि. (जन), <प्र + √बुध्, गस., ष३ ।

प्रबुधे [१७०]—प्र-बुध्-, भा.,<

प्र + √बुध्, गस., च१।

प्रमेष्ठाः [२०७]—प्र-मेष्ठाः, क्रि., <प्र +√मी 'हिंसायाम्', आ., लुङ्, म१।

प्रयतिः [१७६]—प्र-यति-, भा., <प्र+√यम् 'दाने', क्तिन्।

प्रसितिः [१७६]— प्र-सिति-, भा. (आदान), <प्र+ √ सि 'बन्धने (=ग्रहणे)', प्र१।

प्रसुवाति [१०५]—क्रि., <प्र + √सू 'प्रेरणे', तुदादि, लेट्, प्र१।

प्रातर्जितम् [५०]—प्रातर्-जित्-, वि. (प्रातः प्रदीप्त होने वाला ⌊भग⌋), <प्रातर् + √जि '*दीप्तौ', उस., द्वि१।

प्रातर्यावाणम् [१२]— प्रातर्-यावन्-, वि. पुं. (रथ), <प्रातर् + √या 'गतौ', उस., द्वि१।

बिभ्रतः [८२]— बिभ्रत्-, वि. पुं., <√भृ '*वचने', शतृ, प्र३।

ब्रह्म [१५०]—ब्रह्मन्-, ना. न. (ज्योतिस्), <√बृह् '*दीप्तौ', प्र१।

ब्रह्मजूताम् [९३]— ब्रह्म-जूता-, वि. (मेधा), <ब्रह्मन् ⌊वेदमन्त्र⌋ +जूता (<√जू 'प्रेरणे'), तृस., द्वि१।

ब्रह्मण्वतीम् [९३]—ब्रह्मण्-वती-, वि. (मेधा), <ब्रह्मन् (स्तुति, वेद) + मतुप्, द्वि१।

ब्रह्मन् [२२३]—२ब्रह्मन्-, ना. (ब्राह्मणवर्ग), <√बृह् '*शब्दे', स१।

ब्राह्मणम् [९०, ९१]— ब्राह्मण-, ना., न. (वेदपाठ), ब्रह्मन्।

*भक्षी [५८]—*भक्षिन्-, ना., (दाता), <√भज् '*अनुदाने'। वैतु. पपा. प्रभृ. √भज्>भक्षि (क्रि.)।

भद्रम्, भद्रा, भद्राः [३,२,१] भद्र-, वि., ना. (भला ⌊तु. जैमि १,८८ 'यद् वै पुरुषस्य वित् तद् भद्रं, गृहा भद्रं, प्रजा भद्रं, पशवो भद्रम्' इति⌋), <√भद्, न्द् 'कल्याणे, सुखे च'।

भद्रया [३१]—क्रिवि., *भद्रतया

>(वावि.) यनि.।

भयामहे [४५]—क्रि. (=बिभीमः), <√भी 'भये', भ्वादि, उ३।

भरन्तः [६७]—भरत्–, वि., <√भृ 'धारणे', शतृ, प्र३।

भर्गः [६२]—भर्गस्–, ना., न. (प्रकाश), <√भृज् 'दीप्तौ'।

भर्गस्वतीम् [१३६]—भर्गस्-वती–, वि (*माधुर्यवती ⌊वाच्⌋); भर्गस् (<√*भृज् 'माधुर्ये')।

भवन्ति [२१८]—क्रि., <√भू '*भ्रमणे'।

भव्यम् [१९, १६३]—भव्य–, ना. (*वर्तमान), <√भू 'सत्तायाम्' (तु. पाणिनि ३,४,६८)।

भाजयत [२३]—क्रि., <√भज् 'सेवने', णिच्, लोट्, म३। इस क्रि. के योग में 'तस्य' कर्म में ष.।

भामः [१७९]—भाम–, भा., पुं. (क्रोध), <√भा 'दीप्तौ'।

भुजम् [२११]—भुज्–, भा., स्त्री. (भोग), <√भुज्, द्वि१।

भूतकृतः [९५]—भूत-कृत्–, वि. (स्तोत्रकृत् ⌊ऋषि⌋), <भूत (<√भू ⌊=√ब्रू⌋ '*स्तुतौ') +कृत् (<√कृ 'उच्चारणे'), उस., प्र३।

भूतम् [१८६]—भूत–, ना. (ऐश्वर्य), <√भू 'प्राप्तौ'।

भूतिः [१८९]—भूति–, ना. (वैभव), <√भू 'प्राप्तौ'।

भूत्याम् [३१]—भूति–, भा. (विभूति), <√भू 'प्राप्तौ', स१।

भेषजम् [२६]—भेषज–, ना. (औषध)।

भोजनम् [६४]—भोजन–, भा., न., <√भुज् 'रक्षणे'।

भ्राजः [२२२]—भ्राज–, वि., <√भ्राज् 'दीप्तौ'।

मक्षाः [१४३]—मक्षा–, ना., स्त्री. (मधुमक्षिका), प्र३।

मदन्तः [६७]—सम्...मदत्–, वि., <सम्+√मद्, 'हर्षे'।

मदेम [५७]— क्रि. (=माद्येम), <√मद्, भ्वादि, विलि., उ३।

मधु [१४०]—मधु–, क्रिवि., न., द्वि१।

मधुश्चुतम् [३५] —मधु-श्चुत्-, वि. (ऊर्मि), <मधु+√श्चुत् 'क्षरणे', उस., द्वि१ ।

मध्या [४] —क्रिवि. (मध्ये) ।

मनोजुवम् [८६]—मनो-जू-, वि. (वाचस्पति), <मनस् + √जू 'प्रेरणे', उस., द्वि१ ।

मन्तवः [७]—मन्तु-, वि. (आदित्य), <√मन् 'ज्ञाने' ।

मन्दिषीमहि [१७०]— क्रि., <√मन्द् 'हर्षे', आलि., उ३ ।

मयोभुवः [२२]—मयो-भू-, वि. (अप्), <मयस् (सुख) +√भू 'प्राप्तौ', उस., प्र३ ।

१महः [७७]—महस्-, वि.(महान् ⌊अर्णस्⌋), <√मह् 'वृद्धौ'+असि प्र., द्वि१ ।

२महः [१८०,१८२]- महस्-, भा., <√मह् 'वृद्धौ'+असुन् प्र., प्र१ ।

महारथः [२२३] -महा-रथ-, ना., <महत् +रथ (<√*रथ् ⌊=√रध्⌋ हिंसायाम्'), कस. ।

महे [२२]— मह्-, भा. (महत्त्व), च१, विभक्ति-स्वर ।

मायौ [१२८]— मायु-, ना. (ललकार), <√मा 'शब्दे', स१ ।

मित्रमहः [५९]— मित्र-महस्-, वि. (प्रचण्डताप वाला ⌊सूर्य⌋), <मित्र(प्रचण्ड)+महस् (प्रकाश), बस., सं१ ।

मिनीमसि [१६६]— प्र··· मिनीमसि, क्रि., <√मी 'हिंसायाम्', क्र्यादि, लट्, उ३ ।

मुक्षीय [७४]— क्रि., <√मुच् 'मोचने', कर्मकर्तृ, आलि., उ१ ।

मुमुचानः [१६४]— मुमुचान-, वि., <√मुच् 'मोचने', कानच् ।

मृळाति [३४]— आ···मृळाति, क्रि., <आ √मृड् (ळ), लेट्, प्र१ ।

मृत [२१०]— क्रि., < √मृ 'प्राणत्यागे', आ., लुङ्, प्र१ ।

मृथाः [१९७]—क्रि., <√मृ 'प्राणत्यागे', आ., लुङ्, म१ ।

मृधः [४५]—मृध्-, ना. (शत्रु), <√मृध् 'हिंसायाम्', द्वि३ ।

?मे [१४२]– (अस्मद्–>) मे? > मयि शोध इष्ट है।

मेधाम् [९३ प्रभृ.]– मेधा–, ना. (√वृध् '*भाषणे ⌊स्तुतौ⌋' > वृद्धा > *वेयधा > वेधा > ⌊वावि.⌋ यनि.)।

मो [६०]— नि. (मा+उ)।

यक्षम् [१५५]—यक्ष–, ना. (गुह्य ⌊तत्वरूप⌋) < √*यक्ष् 'आवरणे'।

यजत्राः [९]—यजत्र–, वि. (देव), < √यज् 'पूजायाम्', अत्रच्, सं३, स्वराभाव।

यज्ञवाहसः [१६१]— यज्ञ-वाहस्-, वि. (आदित्य), < यज्ञ+(√वह् '*निर्वाहे' >) वाहस्–, उस., सं३, स्वराभाव।

यज्ञिया [९२]—वि. (पूज्या ⌊मेधा⌋), < यज्ञ (पूजा) + मत्वर्थ घ प्र.।

यथास्थाम [९१]— क्रिवि., < यथास्थ मन्–. (< यथा+स्थामन्, ⌊=स्थान⌋), अस., न.. द्वि१।

?यन्ता [१८२]– भा., < √यम् 'उपरमे। पाठ? यन्त्र–>–न्त्रम् शोध इष्ट है।

यन्ति [२१८]— क्रि., < √इ '*वर्तने', लट्, प्र३।

यन्तु [१]— आ···यन्तु, क्रि. < आ+√इ 'गतौ', लोट्, प्र३।

यशसः [१३८]— १यशस्–, वि. (यशस्वी ⌊हम⌋), < √*यश् 'दीप्तौ' + असि प्र.. प्र३। कीर्तिवाचक २यशस् [१३२]— न., असुन् प्र., आद्युदात्त है।

यावती [११२]— यावती–, वि., < यावत्, स्त्री., प्र२।

युयोतन [१०]— क्रि., < √यु 'अमिश्रणे', लोट्, म३।

युयोपिम [१६८]—क्रि., < √युप् '*विलोपे', लिट्, उ३।

युयोम [७८]— क्रि., < (√यु 'पृथग्भावे', जुहोत्यादि, लोट्, उ३ >) *युयवाम।

यो [६२]—यद् ⌊न. प्र. १⌋ +उ > *यदु > *यदो > (वावि.) यो (वैतु. पपा. प्रभृ. = यः ⌊पुं. प्र१⌋ इति ?)।

योः [२५]— योस्, अव्य.

(सुख)।

योगक्षेमः [२२३]— ०क्षेम–, ना., (√युज् ⌊=√जुष्⌋ 'प्रीतौ' >) योग + (√क्षि '*शान्तौ' >)क्षेम, कस.।

रजः [२०७]—रजस्–, ना., न., <√रज् '*आवरणे', द्वि१।

रणाय [२२]—रण–, भा. (आनन्द, रञ्जन), <√रण् 'रञ्जने, रमणे', च१।

रथेष्ठाः [२२३]— रथेष्ठा–, वि. (शत्रुनाश करने वाला ⌊वीर युव⌋), (√*रथ् ⌊=*√रध्⌋ 'हिंसायाम्'>) रथेस् ⌊भा.⌋+ (√*था⌊=√धा⌋ 'कर्मणि'>) था->तस. यनि., प्र१।

रधम् [६०]— क्रि., <√रध् 'हिंसायाम्', लुङ्, उ१।

रन्त्यः[२९]—रन्त्य–, वि.(वसन्त), <√रम् 'क्रीडायाम्', कृत्यार्थे त्यप्, प्र१।

रन्धयन् [६०]— रन्धयत्–, <√रन्ध् 'हिंसायाम्', श.तृ, प्र१।

रपः [१९१]—रपस्–, ना. (पाप), <√रप् 'निन्दायाम्' + असुन् प्र., प्र१।

रातिः [२]—राति–, ना. (दान), <√रा 'दाने'।

रातिम् [६३]— राति– भा., <√रा ⌊=ला⌋ 'आदाने', द्वि१।

रात्रिं-रात्रिम् [६७]— रात्रि–, वीप्सार्थ में द्विरुक्ति (प्रति-रात्रि)।

राष्ट्रे [२२३]— राष्ट्र–, ना. (क्षत्रिय), स१।

रिप्रम् [७८]— रिप्र–, ना. (मल), < √रिप् ⌊=लिप्⌋, 'आवरणे'।

रिषाम [६७,६८]—क्रि., < √रिष् 'हिंसायाम्', लोट्, उ३।

रीरधः [१६७]—क्रि., <√रध् 'हिंसायाम्', लुङ्, म१।

रीरषः [१६८]— क्रि., <√रिष् 'हिंसायाम्', लुङ्, म१।

रूपं-रूपम् [१४९]—रूप, ना., वीप्सार्थ में द्विरुक्ति(प्रत्येक ⌊पूर्ण⌋ रूप)।

रेक्णस्वती[१४]—रेक्णस्-वती–, वि., स्त्री. (स्वस्ति), <रेक्णस् (⌊धन⌋ <√ रिच् 'ऋद्धौ') + मतुप् ।

लयः [१८२]— लय–, ना. (√फल् 'विशरणे'>), *फल-मय->(वावि.) यनि. । पाठ ?, लयम् शोध इष्ट है ।

लोहम् [१८८]— लोह–, ना. (लोहित,तांबा),<√रु(>*लु) ध् '*रक्तवर्णे' ।

वंशिषीय [१४०]— क्रि., < √*वश् 'वृद्धौ', आलि., उ१ ।

वधीः [२१०]—क्रि. (=अवधीः), <√वध् 'हिंसायाम्',लुङ्,म१ ।

वनन्ति [१३५]— क्रि., < √वन् 'संभक्तौ', भ्वादि, लट्, प्र३ ।

वनसा [५६]— वनस्–, भा. (स्पृहा), <√वन् 'याचने', तृ१ ।

वनस्पतयः[२१]—वनस्पति–,ना. (वृक्ष), <वनस् (प्ररोह)+पति, षस., प्र३ ।

वरिमा[१७९]—वरिमन्–, भा., <√वृ 'विस्तारे', प्र१ ।

वरिवः [१२०]— वरिवस्–, भा. <√वृ 'आवरणे, रक्षणे' ।

वरूथम् [२६]— वरूथ–, वि. (कल्याणकारी ⌊भेषज⌋), < √वृ '*भद्रभावे, कल्याण', तु. वर– ।

वरेण्यः [४७]– वरेण्य–, वि. (रक्षक ⌊इन्द्र⌋),<√वृ'आवरणे, रक्षणे'+एन्यन् प्र. ।

वरेण्यम् [६२]—वरेण्य–, वि. (देदीप्यमान ⌊भर्गस्⌋), <√वृ 'दीप्तौ' ।

वर्तनिम् [५६]—वर्तनि–, ना. (मार्ग),<√वृत् '*गतौ',अनिच् प्र. ।

वर्धयाति [१०६]— क्रि., < √वृध् 'वृद्धौ', प्रेरणार्थक णिच्, लेट्, प्र१ ।

वर्षिमा [१७९]— वर्षिमन्–, भा., पुं., <√वृष् '*विस्तारे', प्र१ ।

ववृमहे [३२]— क्रि., <√वृ

'*भोजने', लिट्, उ३ ।

वष्टु [७५]— क्रि., <√वश् 'इच्छायाम्', लोट्, प्र१ ।

वसिष्ठः[१९८]— वसिष्ठ–, वि. (अत्युत्तम ⌊अधिपा⌋), <वसु ⌊वि.⌋ + इष्ठन् ।

वसीयः [१८३]— वसीयस्–, भा., <वसु (<√वस् '*कीर्तने'), प्र१ ।

वसुविदम् [५४]—वसु-विद्–,वि. (ऐश्वर्यवान् ⌊भग⌋), <वसु+ √विद् 'लाभे', उस., द्वि१ ।

वसोः [६८]—वसु–,वि.(प्रकाशमान ⌊अग्नि⌋), < √ वस् '*कान्तौ', ष१ ।

वसोर्वसोः [७०]—वसु–, ना. (धन), ष१, वीप्सार्थ में द्विरुक्ति ⌊प्रत्येक धन का⌋ ।

वसोष्पते [८३]—वसोः ⌊ष१⌋-पति–, ना. (वाणी के रक्षक), तस., ष. अलुक्, सं१ । वसु< √वस् '*वचने' ।

वाजम् [५७]— वाज–, ना. (*आयु), √वृत् 'गतौ'>*वृत्य (*काल) > (वावि.) वर्य> यनि. ।

वाजयन्तः [६३]— वाजयत्–, <(वाज ⌊*स्तुति⌋ भा.>)नाधा. √वाजय, शतृ. ।

वाजसातौ [१२]— वाज-साति–, भा., वाज (शक्ति) + (√सन् 'प्राप्तौ'>)साति–, बस. स१ ।

वाजिनीवती [७५]— ०वती–, वि. (सरस्वती), < (वाज ⌊*शब्द⌋>) वाजिनी (*शब्द-भण्डार) + मतुप् प्र. ।

वाजे [८६]—वाज–,ना. (*वाणी ⌊तु. वाजिनी-वती प्रभृ.⌋), स१ ।

वाजेभिः [७५]—वाज–,ना., *वाद्य >(वावि.) यनि., तृ३ ।

?वात(इवः) [६८] *वा, *ते, √भा >भा- (भा.)>(वावि.) वा, ते (<युष्मद् ; वैतु. ⌊पपा.⌋ वातः) ।

वामम् [१४]— वाम–, ना. (इष्टार्थ), <√वा ⌊= वृ⌋ '*वरणे' ।

वार्षिकीः [२७]— वार्षिकी–,

वि., स्त्री. (वर्षा में होने वाली ⌊अप्⌋), <वर्षा + तत्रभवेऽर्थे प्र. ।

वितत्म् [१५०]— वि-तत-, वि. न. (१ब्रह्मन्), <वि+√तन् '*दीप्तौ', प्र१ ।

वितनु [८४]—क्रि., <वि√+तन् '*बन्धने', तनादि, लोट्, म१ ।

विदत् [१२४]— क्रि., < √विद् ⌊=*√वृध्⌋ '*छेदने', लुङ्, प्र१ ।

?**विदथेषु** [१५५]—विदथ-, ना. (विज्ञानसभा), <√विद् 'ज्ञाने' स३ ।

विदेयम् [९८]—क्रि., <√विद् 'ज्ञाने', विलि. उ१ । स्वर ?, तुदादि में 'विदेयम्' ऐसा शोध इष्ट है ।

विद्युते [३८]— विद्युत्-, वि. (प्रकाशमान ⌊रुद्र⌋), <वि + √द्युत् 'दीप्तौ', च१ ।

विनेशत् [१२३]— क्रि., <वि +√नश् 'अदर्शने', लेट्, एत्व (तु. पावा ६,४,१२०), प्र१ ।

विभातीः [१७]— वि-भात्- >°भाती-, वि. स्त्री. (उषस्), <वि + √भा 'दीप्तौ', शतृ., प्र३ ।

विराजति[७७]—क्रि. (=विराजयति), <वि+√राज् 'दीप्तौ' ।

विराधिषि [८५]— क्रि., वि + √राध् 'वियोगे', लुङ्, उ३, विराधिष्महि> (वावि.) यनि. (तु. सस्थ. संगमेमहि) ।

विरिष्टम् [८१]— वि-रिष्ट-, वि., <वि + √रिष् 'हिंसायाम्' ।

विवस्वतः [५]—विवस्-वत्-,ना. (काल, मृत्यु), √मृध् 'हिंसायाम्' >मृध्वस्>(वावि.) विवस् + मतुप्, ष१ ।

विवृहामि [२०६]— क्रि.,< वि + √वृह् 'हिंसायाम्', लट्, उ१ ।

?**विश्वः** [११]— पाठ? विश्वया (=विश्वतः, क्रिवि. ⌊तु. ऋ ८, ६२,२⌋) इति शोधः (तु. छन्दः) ।

विश्वकर्माणम् [८६]— विश्व-

कर्मन्–, ना. (देव), बस., द्वि१ ।

विश्वधायसः [१३०]— विश्व-धायस्–, वि. (देव), <विश्व+(√धा 'धारणे'>) धायस् (भा.), बस., प्र३ ।

विषूचीः [४६]—विष्वच्–.> °षूची-, वि., स्त्री. (द्रुह्), द्वि३ ।

विहवेषु [१२१]—वि-हव–, ना. (युद्ध), <वि+√ह्वे>हु 'आह्वाने', स३ ।

वृजने [१३]— वृजन–, वा. (विस्तृत-भूमि), <√वृ ⌊=*व्रज्⌋ 'गतौ', स१ ।

वृणीमहे [६४]— क्रि., √वृ '*वर्णने', लट्, उ३ ।

वृधे [१]—वृध्–, भा. (वृद्धि), <√वृध् 'वृद्धौ', च१ ।

वृष्टिः [१८४]—वृष्टि–, ना., <√*वृष 'प्ररोहे' + क्तिन् ।

वैवस्वते [१७३]— वैवस्वत–, ना. (सूर्य), < विवस्वत् + स्वार्थे अण् प्र., स१ ।

व्यचः[९७]—व्यचस्–, वि. (विस्तृत ⌊अन्तरिक्ष⌋), <वि + √अच् 'व्याप्तौ', प्र१ ।

व्यवात् [२०३]— क्रि., <वि +√वा '*दीप्तौ',लङ्, प्र१ ।

व्यशेम [३]—क्रि. (प्राप्त करें), वि + √अश् 'व्याप्तौ', स्वादि, विलि., उ३ । व्यशेमहि पाठभेद सामवेद तथा यजुर्वेद में उपलब्ध है ।

व्यावर्वृत्त् [२१७]— क्रि., वि +आ+√वृत् 'वर्तने', लुङ्, चङ्, प्र१ ।

शग्धि [४५]— क्रि., <√शक् 'शक्तिमत्करणे', अदादि, लोट्, म१ ।

शतम् [२०४]—शत–, ना. (सौ ⌊वर्ष की आयु⌋), द्वि१ ।

शतहायनः [२११]—शत-हायन–, वि. (पुरुष), बस.; हायन =वर्ष ।

शतहिमाः [५७]— शत-हिम–, वि.(वयम्), < शत+हिमा (वर्ष), बस. ।

शम् [१५]—अव्य. (सुखकारक) ।

शंभुः [१७]—शंभु–, ना. (हल), <*शम्भ–(= शम्ब-) + मतुबर्थे उ प्र.।

शरीराणि [१७८]—शरीर–, ना. (संधि), <√*शर् (=̈ कल्) 'संघाते'।

शरुः [५]—शरु–, ना. (हिंसा), <√शॄ 'हिंसायाम्', प्र१।

शर्म [३०]— शर्मन्–, ना., न. (शरण), <√शॄ '*शरणे'।

शिक्षन्तः [१९१]— शिक्षत्–, वि. पुं. (वयम्), <(√शक् 'शक्तौ' सन्नन्त>) √शिक्ष्, शतृ।

शिवा [७८]— शिवा–, वि. स्त्री. (सरस्वती), < श्रेयस् >⌊वावि.⌋ *शि (सुख), मत्वर्थे व प्र.।

शुक्रम् [६१; २२२]— शुक्र–, वि. (दीप्तिमान्), < √शुच् 'दीप्तौ'।

शुन्धयन्तु [२८]—क्रि., <√शुन्ध् 'शुद्धौ', णिच्, लोट्, प्र३।

शुभस्पती [१३६] - शुभस्-पति–, वि. (अश्विन्), शुभस् (<शुभ्, ष१) + पति, सं२, स्वराभाव।

शुभे [१५६]—शुभ्–, भा., च१।

शुम्भन्तु [१६४]—क्रि., <√शुम्भ् 'शोभायाम्', लोट्. प्र३।

शुष्मिणः [३७]— शुष्मिन्–, वि. (बलप्रद ⌊अन्न⌋), <शुष्म (< √शुष् '*बले'), मत्वर्थे इनि प्र.।

शृण्वतः [९]—शृण्वत्-, वि., √शृ ⌊=√श्रु⌋ 'श्रवणे' + शतृ, द्वि३, स्वर विभक्ति पर स्थानान्तरित।

शेवधिः [२०१]— शेव-धि–, ना. (निधि), <शेव ⌊धनादि⌋ + धि ⌊भा.⌋ <√धा '*समूहे'> तस.।

श्नुष्टिम् [२०७]—श्नुष्टि–, ना. (लड़ी), <√*श्नुष् 'सन्ताने'।

?संरभ्यैनम् [१४९]—पाठ?, (⌊सम् + √रभ् 'बन्धने'>⌋ *संरभि- ⌊स्थिरलाभ⌋, >), *संरभये *एनम् यह शोध इष्ट है।

संवित् [१८२]—सं-विद्–, भा. (संवेदन), <सम्+√विद् 'ज्ञाने', प्र१ ।

संवित्स्व [२०९]—क्रि., <सम् + √विद् 'ज्ञाने', लोट्, म१ ।

संविदाना [३१]—सं-विदाना–, वि. स्त्री. (जुड़ी हुई ⌊भूमि⌋), <सम्+√विद् ⌊=भिद्⌋'संबन्धे', शानच्, प्र१ ।

संस्रवन्तु [१४५]— सम्-स्रवन्तु, क्रि.,<सम्+√स्रु 'गतौ', लोट्, प्र३ ।

संस्रावणाः [१४६]— सं-स्राव-ण-, पुं. (गिर् ⌊देव⌋), < सम्+√स्रु '*स्तुतौ', सं३, स्वराभाव ।

सग्धिः [१८४]— सग्धि–, ना. (भोजन), √सघ् '*भक्षणे' + क्तिन् प्र. ।

?संक्रामतम् [१९८]—पाठ ? संक्रामताम् यह शोध इष्ट है ।

?स च [१९७]— पाठ ? तस्मात् यह शोध इष्ट है ।

सचध्वम् [१६९]—क्रि., < √सच् 'समवाये', लोट्, म३ ।

सचन्त [५६]—क्रि., <√सच् 'समवाये, संप्राप्तौ', लङ्, प्र३, अट् का अभाव ।

सजोषाः [१२९]— सजोषस्–, वि.(परस्पर मिले हुए ⌊विश्वे देव, अदिति⌋),<√*सञ्ज् 'सङ्गे' प्र३ ।

सत्यराधः [५१]—सत्य-राधस्–, वि. (भग), बस., सं१ ।

सदम्-इत् [१]—अव्य. (सदैव) । प्रायः 'इत्' के साथ प्रयुक्त होता है ।

सनेम [५७]— क्रि. (=सनुयाम), <√सन् 'संभक्तौ', विलि., उ३ ।

संदृशः [७८]—सं-दृश्–, भा., <सम्√दृश्, पं१ ।

संनमन्त [५४]—क्रि., <सम्+ √नम्, लोडर्थ में लेट्, प्र३ ।

सपीतिः [१८४]—सपीति–, ना. (पोषण), <√सप् '*पोषणे' +(इट्>) ईट्+क्तिन् प्र. ।

सप्त [६]—सप्तन्–, वि. (होतृ), <सप्तभिः, तृ३ लुक् ।

सप्तहोता [१५७]— सप्त-होतृ-, वि. (यज्ञ), <सप्तन्-+होतृ-, बस.।

सप्तिः [२२३]— सप्ति-, ना. (अश्व), < √सप् '*गतौ, वेगे च'।

सप्रथः [३०]— स-प्रथस्-, वि. न. (सुविस्तृत ⌊शर्मन्⌋), बस.।

सभेयः [२२३]— सभेय-, वि., <सभा+ (तत्र साधु अर्थ में) ढ>एय प्र.।

समीहसे [३८]— सम्-ईहसे-, क्रि.,<सम्+√ईह् 'प्रकटभावे', लट्, म१।

सरस्वती [७७]— सरस्वती-, ना. (वाणी देवता), (√स्वृ 'शब्दे' >*स्वरस् ⌊भा.⌋ >) *स्वरस्वती>(वावि.) यनि.।

सर्वधातमम् [६४]—सर्व-धातम-, वि. (भोजन ⌊परिपालन⌋), < सर्व-धा (सर्व-धारयितृ) + तमप्, द्वि१।

सर्ववीरम् [१०६]—सर्व-वीर-, वि., बस.।

सवेन- [१५३]—सव-, भा.,< √सू 'प्रेरणे', तृ१।

सहसा [६०]— सहस्-, भा. (प्रचण्डता, प्रताप), <√सह् 'अभिभवे', तृ१।

सहौजः [८९]— सहौजस्-, क्रिवि., <सह + ओजस्, बस., न., द्वि१।

साम [१५८]— सामन्-, ना., <सामानि, प्र३ लुक्।

साविषत् [१०२]—क्रि.,<√सु 'प्रसवे', लेट्, प्र१।

सावीः [६५]— क्रि., <√सू 'प्रेरणे', लुङ्, म१।

सिच्यमानायाम् [१४४]— सिच्यमाना-, वि. (सुरा), < √सिच् '*कर्षणे'।

सीरम् [१८२]—सीर-, ना. न., (√कृष्>) *कृषीर> (वावि.) यनि., प्र१।

सुगन्धिम् [७४]— सुगन्धि-, वि. (त्र्यम्बक), <(*सुग ⌊सुख⌋>) सुगम् + धि (<

√धा), द्वि१ ।

सुगम् [१८६]— सुग-, ना. (सुख), सुख >(वावि.) यनि. ।

सुगा [६]— सु-ग-, वि. न. (सुपथ) । <सु+√गम् 'गतौ', द्वि३ ।

जातता [५७]—सुजात-ता-, भा. (प्रकाशवत्ता), सुजात + भावे तल्> °त-तया ⌊तृ१⌋ > यनि. ।

सुत्रामाणम् [८]—सु-त्रामन्-, वि. (नौ), <सु+√त्रा 'त्राणे'+मन् प्र., गस., द्वि१ ।

सुपथा[६]—सुपथ-,ना. (सुमार्ग), सुख- (त्रि.) + *पथ- (भा. ⌊गमन⌋) >बस. *सुख-पथ-> (वावि.) यनि., द्वि३ ।

सुपथ्र्यम्- [१८६]—सुपथ्र्य-, भा., *सुख-भृत-(भावे)>*सुख-भृतिक->(वावि.) यनि. ।

सुप्रणीतिम् [८]—सु-प्रणीति-,वि. (नौ), <*सुप्र (<सु+√*प्रा, कर्त्रथ) + नीति, बस., द्वि१ ।

सुभगाम् [९८]— सु-भगा-, वि. (प्रकाशवती ⌊आकृति-⌋), बस. ।

सुभूतम् [४३]—सु-भूत-, भा. (प्रचुरता), <सु (प्रचुर, पर्याप्त) +भूत (भाव, स्थिति), तस. ।

सुमृडीका [७८]—सु-मृडीका-, वि. (करुणामयी ⌊सरस्वती⌋), <सु + मृडीक (<√मृड् 'सुखने'), बस., प्र१ ।

सुमेधसः [८७]—सु-मेधस्-, वि. (हम), <सु+मेधस्, बस., प्र३ ।

सुवीराः [५७]—सु-वीर-, वि. (स्वास्थ्य-युक्त ⌊हम⌋), सु+ (√वी '*स्वास्थ्ये'> ⌊भावे⌋) वी->सुवी+र (प्) प्र., प्र३ ।

सुशर्माणम् [८]—सु-शर्मन्-,वि. (नौ),>सु + (√शॄ '*रक्षायाम्' >) शर्मन्, गस., द्वि१ ।

सुशेवः [३३]— सु-शेव-, वि. (पितु =अन्न), <सु+√*शेव् (=√सेव्), प्र१ ।

सुपदाम् [१३४]— सु-पद्-, वि. (अधिक बल वाला ⌊मृग⌋),

<सु + √सद् '*बले', ⌊तु. सत्त्व⌋, ष३ ।

सूनृतानाम् [७६]—सूनृता–, ना., <सून (सत्य) + ऋत (*शब्द), बस., ष३ ।

सूरिः [२२१]— सूरि–, वि., <√स्वृ 'दीप्तौ'>*स्वर्धि-> (वावि.) यनि. ।

सौमनसस्य [६९]—सौमनस–, भा. (हार्दिक प्रसाद), <सुमनस्, ष१ ।

स्तनयित्नवे [३८]—स्तनयित्नु–, वि. (रुद्र), <√स्तन् 'गर्जने', +णिच्, इत्नुच्, च१ ।

स्थविरस्य [४८]—स्थविर–, वि. (बलवान् ⌊इन्द्र⌋), <√*स्थु 'बले' ⌊तु. तुष्टुवांसः⌋ ।

?स्नात्वा [१६४]—पाठ ? स्नातो वा यह शोध इष्ट है ।

स्योना [३०]—स्योना–, वि. स्त्री. (सुखदा ⌊पृथिवी⌋), *शिव-वन्त> °न्ता>(वावि.), यनि., प्र१ ।

स्राव्येण [१४५]— स्राव्य–, वि. (हविस्), <√स्रु 'गतौ, वहने', तृ १ ।

स्वः [३८]—स्वर्, अव्य. (प्रदीपने प्रदीपन करते हुए⌋), <√स्वृ 'दीप्तौ' ।

स्वरित्राम् [८]—स्वरित्रा– वि. स्त्री. (नौ), सु + अरित्र (⌊चप्पू⌋ < √ *अर् = √ऋ 'गतौ'), बस., द्वि१ ।

स्वर्वति [१३]—स्वर्-वत्–, वि. (वृजन), <स्वर् (संचार, गति), मतुप्, स१ ।

स्वस्तये [६]— स्वस्ति–, भा. (सुख, कल्याण), <स्वस् (< स्वर्),+ ति ⌊वैतु. अन्ये <सु + अस्ति इति⌋, च१ ।

स्वावेशा [१४]—स्वावेशा–,वि. स्त्री. (स्वस्ति), <सु + आवेश, बस., प्र१ ।

स्वाहा [१००]— अव्य. (बलि ⌊भाजन⌋ का संकेतक ⌊तु. स्वधा⌋) ।

स्विन्नः [१६४]— स्विन्न–, वि., <√स्विद् 'स्वेदे' + क्त, प्र१ ।

हत्नवे [१६७]— हत्नु-, वि. (वध), < √हन् 'हिंसायाम्', च१ ।

हरिमाणम् [५९]—हरिमन्-, ना. पुं. (पीलिया), <हरित्+इमनिच् प्र., द्वि१ ।

हवनानि [८६]—हवन-, ना. न. (स्तोत्र), <√हु(<√ह्वे) 'आह्वाने', द्वि३ ।

हवामहे [४६;४९:५०]—क्रि.,< √हु(<√ह्वे) 'आह्वाने = प्रसादने', स्वादि, आ., लट् , उ३ ।

हविषा [४२]—हविस्-, ना. (आहुति), <√हु 'दाने', तृ१ ।

?हविषेमम् [२०४]— पाठ ? हविषा । *तुभ्यम् यह शोध इष्ट है (वैतु. पपा. प्रभृ. °षा । इमम् इति) ।

हस्तिवर्चसम् [१२९]—°र्चस्-, वि. न. (हस्ति-वर्चस् के समान वर्चस् वाला [यशस्]), बस., समासान्त अच् प्र. ।

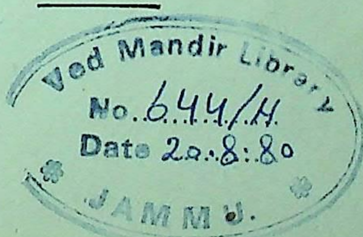
हासिषुः [१६९]— क्रि., < √हा 'त्यागे', जुहोत्यादि, लुङ्, प्र३ । हासीत् [१९४] प्र१ यह विशेष है ।

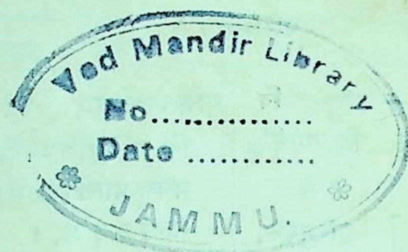
हुवेम [९] — क्रि., < √हू (<√ह्वे) 'आह्वाने', तुदादि, विलि., उ३ ।

हृणानस्य [१६७]—हृणान्-, वि., <√हृण् 'अनादरे', शानच्, ष१ ।

हेतिः [५]—हेति-, ना. (अस्त्र), <√हि '*हिंसायाम्', ति प्र. ।

ह्वयामसि [१९७]—क्रि. <√ह्वे 'आह्वाने', लट्, उ३ ।




Ved Mandir Library
No...............
Date ....
JAMMU.


V.R.I.

